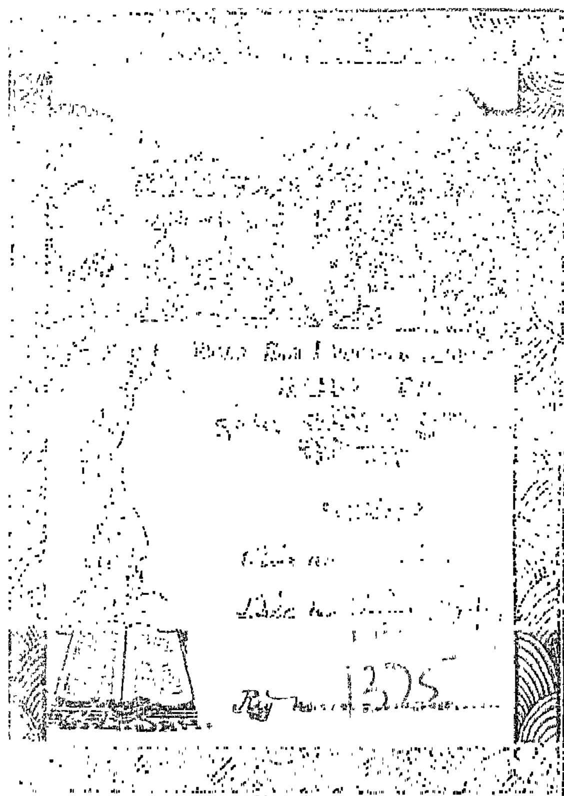


भारत की विभूतियाँ

लेखक

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

["संयुक्त प्रान्त की विभूतियाँ", "रूप और रुपया", "नाना फड़नवीस" आदि के रचयिता ।]

प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड सन्स

आगरा व प्रयाग

१९४६ मूल्य २)

प्रकाशक
रामप्रसाद एण्ड सन्स
आगरा व प्रयाग

मुद्रक—
बी० एल० वारश्नी,
वारश्नी प्रेस, इलाहाबाद



आनरेबिल श्री सम्पूर्णानन्द जी
सचिव शिक्षा-विभाग
युक्त प्रान्त

समर्पण

ज्येष्ठ भ्राता,

श्रद्धेय श्री सम्पूर्णानन्द जी के

चरण कमलों में

मेरे लिये आप ही भारत की सबसे बड़ी

'विभूति' हैं

रथयात्रा, २००३

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

निवेदन

भारत के महापुरुषों के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। किन्तु, जीवन का कुछ ऐसा क्रम है कि अभी तक वह इच्छा पूरी न कर सका था। स्यात् इस कार्य में कुछ और विलम्ब होता यदि मेरे मित्र श्री हरिहरनाथ अग्रवाल ने आग्रहपूर्वक, कोंच कोंच कर, इस पुस्तक को लिखवा न डाला होता। फिर भी मुझे इस ग्रंथ से पूरा संतोष नहीं है। मैं इसे जितना सुन्दर बनाना चाहता था, न बना सका। विभूतियों पर जो वैज्ञानिक विवेचन तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करना चाहता था, न कर सका। यदि अवकाश अधिक मिलता, समय कम न होता, तो काम अवश्य इससे अच्छा होता।

संसार के मुकुटमणि भारतवर्ष में विभूतियों का समुद्र-सा उमड़ा पड़ा है। उनमें से किस लहर को लक्ष्य कर, कितना लिखा जावे यह कुछ हँसी खेल नहीं है। किस विभूति का कितना महत्व है, इसका निर्णय बहुत कुछ अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। चेष्टा मैंने अवश्य की है कि निश्चय रूप से, तटस्थ भाव से, लोकमान्य सभी महापुरुष आ जावें पर सम्भव है इसमें मुझे पूरी सफलता न मिली हो और कुछ लोग ऐसे नाम भी इंगित करें जिनका समावेश होना उचित था। किन्तु, पूर्ण पुस्तक पढ़ने पर विदित होगा कि यदि पृथक् अध्याय के रूप में न सही तो घटनावश अनेक अध्यायों में ऐसे सभी नाम आ गये हैं। उनका वर्णन है, उनके सत्यकार्यों की समीक्षा है। विभूतियों में कुछ महिलाओं का भी नाम देना जरूरी था। अहिल्या बाई, महारानी झाँसी, देवी सरोजनी, श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि का वर्णन हो सकता था। भारत के "नारी रत्न" नामक अपनी पुस्तक में मैंने कुछ महादेवियों का वर्णन किया भी है। मेरा विचार इस विषय में पृथक् ग्रंथ ही लिखने का है।

पुस्तक का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। निष्पक्ष जीवनी लेखक को अपने राजनैतिक विचारों के तराज़ू पर महापुरुषों को नहीं तौलना चाहिये। मेरा ऐसाही विश्वास है। अतएव, मैंने यथाशक्ति निष्पक्ष विवेचन किया है। किसी विभूति के जीवन के ६०-७० वर्ष एक छोटे से लेख में अंकित नहीं किये जा सकते। उनकी महत्ता की भूमिका मात्र लिखी जा सकती है। अतएव यह ग्रंथ विभूतियों के विषय में एक भूमिका मात्र समझा जावे तो मुझे आपत्ति न होगी। पुस्तक के विस्तार-भय तथा काग़ज़ मिलने की कठिनाई के कारण इसका आकार छोटा रखने का भी ध्यान था। दादा भाई नौरोजी ऐसे महापुरुष का वर्णन तत्कालीन सभी बड़े नेताओं के चित्रण में काफ़ी पर मेरा विचार इस महापुरुष की स्वतन्त्रता जीवनी लिखने का ही है। आ गया है। अतएव उस पर अलग अध्याय नहीं है। नाना फड़नवीस का परिचय माधवराव पेशवा के अध्याय में आ जाता है। अध्यायों का निरूपण मैंने इस प्रकार अवश्य किया है कि भारतीय इतिहास ही पाठकों के सामने आ जाये। सम्भव है मैं इसमें कुछ सफल हुआ हूँ।

मैं एक साधारण लेखक तथा मध्यम श्रेणी का पेट पालने वाला पत्रकार हूँ। संघर्ष तथा साधना मेरे जीवन के साथ धूप छांह की तरह लगे हुए हैं। अपने ऐसे लाखों नर नारियों के जीवन की सफलता के लिये अपने देश की विभूतियों का स्मरण कर उनके आदर्श से अपना सुधार करना ही हमारे उद्धार का एकमात्र उपाय है। ईश्वर हमें आत्म-बल दें।

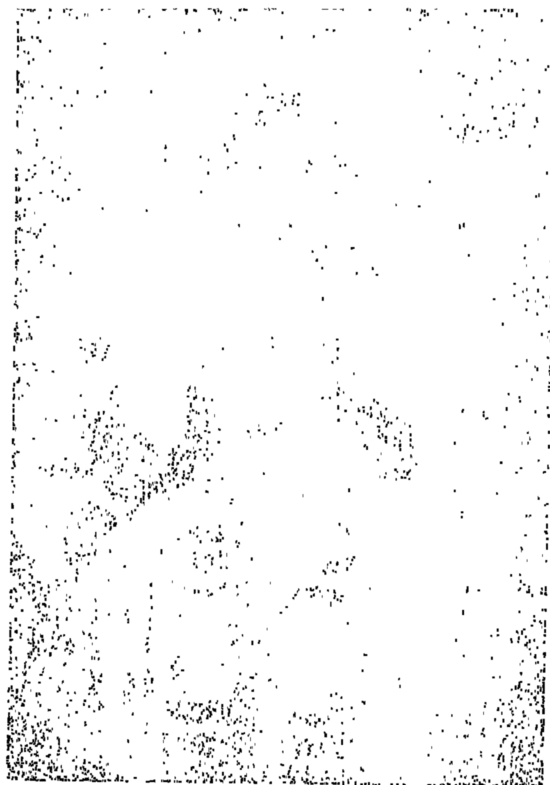
बिहारी निवास,
कानपुर,
रथयात्रा, २००३

परिपूर्णानन्द वर्मा

भारत की विभूतियाँ

विषय सूची

धार्मिक नेता



भगवान श्रीकृष्ण

भगवान श्रीकृष्ण

भगवान् शब्द हम भारतीयों को बहुत ही प्रिय है। जिसे हम विभूति तथा विद्या से परिपूर्ण देखते हैं, उसी के सामने आदर से मस्तक झुकाकर 'भगवान्' की उपाधि से विभूषित करते हैं। भारत की परम्परा जब तक जीवित है, तब तक भगवान् का आदर होगा।

इस शब्द का तात्पर्य केवल परमात्मा से ही नहीं है। हमारे शास्त्रों ने 'भगवान्' शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। लिखा है :

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च, स वाच्यो भगवानिति॥"

जिसको सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हो, जो प्राणियों की गति तथा अगति को जानता हो, जो ज्ञान तथा अज्ञान से, विद्या तथा अविद्या से परिचित हो, उसी को भगवान् कहना चाहिये। पर, इस परिभाषा के अनुसार, इतना सम्पूर्ण पुरुष मिलना असम्भव है। फिर भी, ऐसे ही सम्पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण थे जिनको हम संसार के सबसे महान् पुरुष तथा विष्णु के १६ अंश की पूर्ण-कला सहित अवतार लेने वाली दैवी विभूति कहते हैं। श्रीकृष्ण के ही विषय में श्री मद्भागवत में लिखा है कि कर्मकांड-रूप समस्त वेद, इन्द्र प्रभृति भी देवता मानकर जिनकी महिमा का वर्णन करते हैं, उपनिषद् ब्रह्मरूप से जिसका प्रतिपादन करते हैं, सांख्य-शास्त्र के पंडित जिसे निर्गुण, निष्क्रिय पुरुष मानते हैं, योगी लोग जिसे परमात्मा समझते हैं और भक्त लोग छः प्रकार के ऐश्वर्यों

से सम्पन्न भगवान् समझकर जिसकी पूजा करते हैं, यशोदा के पुत्र वही भगवान् कृष्ण हैं।

भारतीय उन्हें विष्णु का अवतार कहते हैं। पौराणिक कथा तो यह है कि जब मथुरा के नरेश राक्षस कंस के अत्याचार से भारत त्राहि-त्राहि करने लगा, उस समय देवकी के गर्भ से अर्थात् कंस की बहन के पेट से कृष्ण ने जन्म लिया था। कंस को नारद ने यह बतला दिया था कि उसकी बहन का आठवाँ पुत्र ही उसका प्राण लेगा। अतएव कंस ने अपनी बहन तथा बहनोई वसुदेव को जेलखाने में बन्द कर रखा था और उनकी सात संतानों को पैदा होते ही मार डाला था। आठवीं संतान कृष्ण थे जिनके जन्म के समय जेल का फाटक खुल गया, संतरी मोह-निद्रा में सो गये तथा वसुदेव ने उन्हें गोद में लेकर यमुना पार कर, वृन्दावन के ग्वालों के नरेश तथा कंस के कर-दाता राजा नन्द के यहाँ पहुँचा दिया। उसी समय नन्द की पत्नी यशोदा के एक कन्या उत्पन्न हुई थी और वे अचेत पड़ी थीं। वसुदेव ने कन्या उठा ली, अपना पुत्र वहाँ लिटा दिया। कन्या लेकर मथुरा वापस आ गये। कन्या की रुलाई से पहरे दार जग गये। कंस आया। उसने कन्या को पत्थर पर पटक-पटक कर मार डालना चाहा पर वह दैवी विभूति आकाश में उड़ गयी।

इसके बाद कृष्ण का बाल-जीवन, बचपन में ही राक्षस-राक्षसियों का नाश, अपने सौतेले भाई बलराम के साथ कंस पर चढ़ दौड़ना, कंस की हत्या, नन्द को यह पता चल जाना कि कृष्ण वसुदेव के पुत्र हैं, कृष्ण तथा बलराम का अपने माता-पिता से भेंट और वृन्दावन छोड़कर उनके साथ रहना आदि कथायें हैं। भारत की पौराणिक कथाओं में जहाँ सत्य का पर्याप्त अंश है, वहीं असंभाव्य अथवा काल्पनिकता की मात्रा भी पर्याप्त रूपेण

सम्मिश्रित है। इसीलिये हमारे पास अपने प्राचीन महापुरुषों का क्रमबद्ध सूचनापूर्ण इतिहास भी नहीं प्राप्त है। फिर भी, भारतीय इतिहास के लिये भगवान् कृष्ण का महाभारत कालीन जीवन सबसे महत्वपूर्ण है।

यहाँ पर हम कृष्ण के जीवन की कथायें, राधिका से उनके सत्य प्रेम, रुक्मिणी अथवा सत्यभामा से विवाह, राजकीय उपद्रवों के कारण द्वारिकापुरी को राजधानी बनाना, अपनी बहन सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से न होने देकर, अर्जुन से करना इत्यादि के विषय में कुछ न लिखेंगे। यदि बहुत सोच समझकर केवल ऐतिहासिक महत्व की घटनायें ही लिखी जायेंगी तो कम से कम २५, ३० पृष्ठ तो हो ही जावेंगे। इसलिये अति संक्षेप में उनके जीवन का मूल महत्व देना होगा।

कृष्ण के जीवन का सबसे बड़ा महत्व है परिपूर्णता। बचपन इतना नटखट, रोचक, तथा बाल-चापल्य से युक्त था कि समूचा ब्रज उनपर रीझ गया था। जवानी इतनी साहस पूर्ण थी कि अपने बाहुबल से भारत को राक्षसों यानी अनार्यों, विदेशियों के पंजे से छुड़ाकर, धर्म तथा जाति का कल्याण किया। साँवले होने पर भी बड़े सुन्दर थे। स्त्रियाँ उनको देखकर रीझ जाती थीं पर कृष्ण में ब्रह्मचर्य्य का तेज इतना प्रबल था कि हरेक परायी स्त्री को माता समझते थे। उनके मन में जरा भी पाप न था। भारत का कल्याण तथा उसके अभ्युदय के लिये वे इतने उत्सुक थे कि एकछत्र राज्य की स्थापना के लिये उन्होंने कौरवों के विरुद्ध पांडवों का न्याय्य पक्ष लिया। स्वयं अपनी राजधानी द्वारिकापुरी बनाकर जनता को यह शिक्षा दी कि समुद्र किनारे बसना चाहिये और अपनी नौ सैनिक शक्ति बढ़ानी चाहिये।

"न्याय" तथा "सत्य" कृष्ण की यही नीति थी। महाभारत काल को हुए आज कितना समय हुआ, इसका अनुमान लगाना

कठिन है, पर पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पाँच हज़ार वर्ष तो अवश्य ही हुए। पश्चिमीय ही नहीं, समूचे संसार की सभ्यता भी ३ हज़ार वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। इसलिये आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व राजनीति, धर्म, आचरण तथा कर्मयोग की जो शिक्षा कृष्ण भगवान् दे गये हैं वह संसार में सदैव मानवता को मार्ग बतलाती रहेगी। कृष्ण ने यह सत्य कहा है :—

"यदा यदाहि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम ॥"

"हे अर्जुन जब-जब धर्म की ग्लानि यानी हानि होती है, उस समय धर्म्म को ऊँचा उठाने के लिए मैं अपने को उत्पन्न करता हूं।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब मानवता पतन के गहरे गढ़े में गिर कर धर्म तथा सदाचार भूल जाती है उस समय, कृष्ण के ही उपदेशों को, दूसरी भाषा या रीति से सुनाकर, मनुष्यता को जागृत करने वाले महापुरुष उत्पन्न होते हैं। कृष्ण, ईसा, बुद्ध, पैग़म्बर, ज़रथस्तु, सभी की वाणियों में एक ही मिठास, उपदेश में एक ही महामंत्र, जीवनचर्या में समान त्याग तथा तपस्या विद्यमान है। कृष्ण ने जिस उपदेश का अलख जगाया था, सब उसी मंत्र को विविध रूप से, देश, काल, पात्र के अनुसार कह रहे हैं। इसीलिये सत्य कहा है कि भगवान् एक है, शास्त्र एक है, महावाक्य एक है, उसको कहने वाले प्राणी ही भिन्न-भिन्न हैं।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"

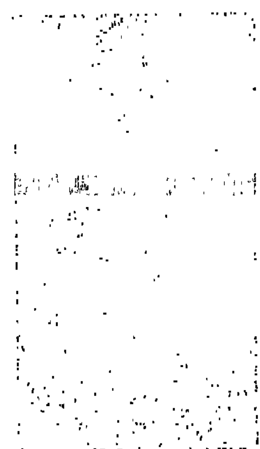
अर्थात् एक महान् सत्य को पंडित लोग अनेक प्रकार से कहते हैं। कृष्ण के जीवन में जितने उथल पुथल हुए, घरेलू झंझट, समाज की झंझट तथा राजनीति का झंझट, सबको

झेलते हुए वे जिस प्रकार जीवन-यापन करते रहे, वह एक अभूतपूर्व समन्वय है। आदर्श है। उन्होंने पांडवों को उनका राज्य वापस दिलाया, राजनीति तथा कर्मयोग की शिक्षा को अपनी गीता में ऐसा भर दिया है कि वह आज संसार की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रिय पुस्तक है। उन्होंने अर्जुन को, जब वह महाभारत में लड़ने से हिचक रहे थे, ललकार कर कह दिया कि तुमको कर्म करना चाहिये, कर्म के फल का विचार करना तुम्हारे अधिकार में नहीं है। कृष्ण के उपदेशों के संकलन का नाम है "गीता" संसार में यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

अस्तु, कृष्ण नाम के कई पुरुष हमारे प्राचीन इतिहास में हो गये हैं। एक तो कृष्ण नामक राक्षस था जिसका वध इन्द्र ने किया था। दूसरे कृष्ण द्वैपायन व्यास भगवान थे जिन्होंने १८ पुराणों की रचना की है। तीसरे हमारे चरितनायक श्रीकृष्ण भगवान हैं जिनका जन्म भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को ठीक अर्द्ध रात्रि में हुआ था, जिन्होंने १२ वर्ष की उम्र में कंस को मारा, पाँडवों के साथ महाभारत का सूत्रपात किया, अपने परम मित्र अर्जुन का रथ हाँककर, बिना हथियार चलाये, बुद्धि के सहारे अर्जुन को विजय दिलवाई तथा स्वयं द्वारिका में निवास करते थे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का थोड़ा परिचय हमें मिल गया। इससे अधिक जानकारी के लिये तथा उनके परिवार, उनकी उम्र, उनके घरबार का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिये पाठकों को पुराणों का सहारा लेना पड़ेगा। कृष्ण की रासलीला, उनका दही-मक्खन चुराना आदि कथाओं में हमें असली श्रीकृष्ण न मिलेंगे। भारत का असली श्रीकृष्ण गीता में है, जिसे हरेक को पढ़ना चाहिये।

१५ वीं सदी में बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण का बड़ा प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने उनकी भक्ति को स्थायी बनाने के लिये वल्लभ सम्प्रदाय की रचना की। आज भारतवर्ष में श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त तथा अनुयायी महात्मा गाँधी हैं। कृष्ण की "गीता" संसार की सबसे मान्य पुस्तक है।



बुद्ध

गोरखपुर ज़िले में नौतनवा नाम का एक स्टेशन अवध तिरहुत रेलवे लाइन पर है। इस स्थान से आठ मील पश्चिम, रुम्मन देई नामक स्थान है। संसार के लगभग ५० करोड़ बौद्धों के लिये यही सबसे महत्त्वपूर्ण पुण्य भूमि है, इसका प्राचीन नाम लुम्बिनी वन है, और इसी पवित्र स्थान पर महात्मा ईसा से छः सौ तेईस वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। वर्तमान नैपाल राज्य की दक्षिण सीमा पर, रोहिणी नदी के पश्चिम, शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसके राजा शुद्धोदन ही इस महापुरुष के पिता थे। शुद्धोदन के दो स्त्रियाँ थीं, माया और प्रजापति। नरेश की अधेड़ अवस्था में, अर्थात् ४५ वर्ष की उम्र में मायादेवी को गर्भ रहा। बच्चा पैदा होने के कुछ ही समय पूर्व महारानी ने अपने मायके में यानी

कोलियों की राजधानी देवदह में जाने का निश्चय किया और इसी यात्रा में, उपरलिखित वन में, एक शाल वृक्ष के नीचे उनको पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम रखा गया गौतम।

राजकुमार के लिये सुलभ सभी शिक्षायें उनको प्राप्त हुईं। अस्त्र-शस्त्र चलाना, तथा धर्म शास्त्र आदि सभी विषयों की शिक्षा दी गई। राजा भी बड़े प्रसन्न थे कि उनकी गद्दी का उत्तराधिकारी उत्पन्न हो गया और वंश की परम्परा चल निकलेगी। किन्तु कुमार प्रायः उदासीन रहा करते थे और मन ही मन संसार की अनेक बातें सोच लिया करते थे। एक बार जब वे घूमने जा रहे थे तो कमर झुके हुये एक बूढ़े को देख कर, और यह जान कर कि एक दिन सबका बुढ़ापा आता है, उनको बड़ी ग्लानि हुई। इसी प्रकार उन्होंने एक रोगी को तथा एक मृतक को भी देखा था। इन दृश्यों का उनके मन पर बड़ा प्रभाव और बोझ पड़ गया था। जीवन की क्षणभंगुरता तथा नश्वरता उनके मन को विचलित कर देती थी। अपने चारों ओर बिखरी हुई सुख सामग्री के बीच में मानवता की वेदना और पीड़ा उनको कराहती दीख पड़ती। इस अस्थिरता तथा उदासीनता से राजा शुद्धोदन बड़े दुखी रहते थे। उन्होंने इस बात की भरपूर चेष्टा की कि सिद्धार्थ के चारों ओर केवल सुख का अतुल वैभव रहे, दुःख की चींटी भी न रेंग पावे। गौतम के चित्त को घर-गृहस्थी के माया मोह में बाँध रखने के लिये उनका विवाह यशोधरा नामक सुन्दरी, सुशीला राजकुमारी से हुआ था। २८ वर्ष की उम्र में इनको एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया। इसका नाम था राहुल।

गौतम माया के घोर अन्धकार में भटकने लगे। इनकी माता मायादेवी तो जन्म देने के एक सप्ताह के भीतर ही परलोकयात्रा कर चुकी थीं। विमाता प्रजापति का स्नेह मातृस्नेह से कहीं अधिक था। उधर पत्नी की सुशीलता चित्त पर प्रभाव

डालना चाहती थी। पुत्र का स्नेह भी कम बाधक नहीं था। पर, संसार का दुःख उनका चित्त दूसरी ओर खींच रहा था।

इसी बीच उनको एक संन्यासी का दर्शन प्राप्त हुआ जिसके चेहरे पर छिटकी प्रसन्नता, शान्ति, विरक्ति तथा स्नेहशीलता उनके मन पर अमिट छाप छोड़ गई और उसी दिन से सब कुछ त्यागकर उनकी जंगल जाने की प्रवृत्ति होने लगी। ममता पराजित हुई। विश्व कल्याण का दीपक उनको अपनी ओर खींच कर ले गया और एक रात वे घर से निकल पड़े।

इधर ज्ञान की तलाश में भटकते भटकते गौतम राजगृह पहुंचे। कहीं कोई साधु-महात्मा मिलते कभी कर्मकांडी, हरेक अपने मार्ग पर चलने की शिक्षा देते। पर चित्त को न तो असली ज्ञान प्राप्त हुआ, न शान्ति। राजगृह के नरेश बिम्बसार ने उन्हें घर लौट जाने की सलाह दी पर यहाँ तो धुन सवार थी। अन्त में साधना तथा तपस्या ने मन का मैल कट गया, पाप धुल गये, वासना सदा के लिये भस्म होगई और गया में वट वृक्ष के नीचे बैठे बैठे उनको यकायक आत्मज्ञान, परमज्ञान प्राप्त हो गया। जिस शुभ दिन यह ज्ञान प्राप्त हुआ था, उस दिन वैसाखी की पूर्णिमा थी। यह दिन तथा वह वृक्ष (अमरबोधि वृक्ष) बौद्धों के लिये महापवित्र है। इसी अवसर से गौतम का नाम बुद्ध अथवा 'ज्ञान-प्राप्त' हो गया और वे बोल उठे :—

"हे शरीर रूपी घर, मैंने तुझे पहचान लिया। अब तू फिर घर न बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियाँ टूट गयीं। घर का शिखर गिर पड़ा। संस्कार-रहित चित्त से तृष्णा का क्षय हो गया।"

गौतम के साधना-काल में उनके पाँच साथी थे। जब गौतम ने व्रतोपवास आदि को निरर्थक समझ कर उन्हें त्याग ने का निश्चय किया तो वे उनको पथ से भ्रष्ट समझ कर उनसे अलग हो गये थे। बुद्ध ने अपने परम मंत्र से पहले उन्हीं को पवित्र

करने का निश्चय किया और उनको ढूढ़ते-ढूढ़ते ऋषिपत्तन मृगदाव (वर्त्तमान सारनाथ) आये। उपदेशामृत पान करते ही पाँचों साथी उनके शिष्य हो गये। उनकी आँखें खुल गयीं। भगवान् बुद्ध का मूल मन्त्र है "मज्झिम मार्ग" अर्थात् "मध्यम मार्ग।" मनुष्य को इसी मार्ग पर चलने से आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। वह जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है। हरेक प्राणी को चाहिये कि ठीक विचार, ठीक संकल्प, ठीक वाणी, ठीक कर्म, ठीक आजीविका, ठीक उद्योग तथा ठीक स्मृति (चित्त वृत्त और ठीक समाधि रखे। बस, निर्वाण का मार्ग प्रशस्त हो जावेगा।

अपने इसी मंत्र को लेकर भगवान् बुद्ध प्रचार के लिये निकले। वर्षा के तीन मास छोड़कर, वे बराबर घूमा करते थे। अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लोक कल्याण के कार्य में व्यतीत करते थे। कुछ ही दिनों में उनकी भिक्षु मंडली की संख्या ६० तक पहुंच गयी। उन्होंने इन भिक्षुओं को भी अलग-अलग धर्म्म प्रचारार्थ भेजा। आनन्द उनके परम प्रिय शिष्य थे और सदैव उनकी सेवा में लगे रहते थे।

उस समय की भारत की परिस्थिति पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिये। देश में सर्वत्र आर्य सनातन धर्म का प्रचार था। किन्तु, राजनैतिक एकता न थी। मौर्य साम्राज्य ने उसे विदेशी पंजे से छुड़ाकर, यूनानी आक्रमण से निर्भय कर दिया था, पर उनका भी चतुर्दिक एक छत्र शासन स्थापित न हो सका था। सनातन धर्म्म का वैदिक युग लोगों को भूल रहा था। छुआछूत, वर्णव्यवस्था, सामाजिक भेदभाव, अहंकार, पुरोहितों-ब्राह्मणों का मनमाना कार्य, जादू-टोना, तंत्र, मन्त्र अनगिनत देवी देवताओं की पूजा समाज में प्रवेश कर चुकी थी। बलिदान तथा मांसाहार बहुत बढ़ गया था। इसलिये

हमारे समाज की शृङ्खला ढीली पड़ गयी थी। उस अवसर पर, समानता, भ्रातृत्व, अहिंसा, सत्य, न्याय, पवित्रता आदि का डंका पीटने वाला बौद्ध समाज, जो जनता की प्रिय पाली भाषा में ही अपना प्रचार कार्य करता था, सर्व प्रिय होने लगा। बौद्ध धर्म के प्रचारक केवल भिक्षु सन्यासी थे, जो 'विहार' में रहते थे। इनके मठ का नाम विहार था। इन्हीं पर धर्म्म की रक्षा तथा प्रचार का भार था। इस धर्म्म की प्रणाली में शायद यही दोष था क्योंकि जब मुसलिम मत वालों ने इनके मठों को उजाड़ डाला तो धर्म्म का स्तम्भ ही भारत से टूट गया। सनातन धर्म्म गृहस्थों की देख-रेख में पनपने के कारण बचा रहा।

भगवान् बुद्ध का आत्मचरित बड़ा ही रोचक और उपदेश पूर्ण है। उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई और स्वयं उनके पिता राजा शुद्धोदन, स्त्री यशोधरा तथा पुत्र राहुल ने उनके दर्शन किये और बौद्ध मत स्वीकार किया। राहुल सन्यासी हो गया। राजवंश के होने के कारण तत्कालीन नरेशों पर भी उनका बड़ा प्रभाव पड़ा और मगध नरेश बिम्बसार ने भी उनका धर्म्म स्वीकार कर लिया।

अब उनके जीवन की दो एक कथाएँ देकर हम यह छोटा सा परिचय समाप्त करेंगे। कृशगौतमी नामक एक दरिद्र स्त्री का एक मात्र पुत्र मर गया। वह रोती कलपती बुद्ध के पास आई और उनसे आग्रह करने लगी कि मेरे पुत्र को जिला दो। उन्होंने कहा कि जिस घर में कोई मरा न हो, वहाँ से पीली सरसों माँग कर ले आओ। दिन भर भटकने के बाद उसकी आँखें खुलीं। उसने समझ लिया कि संसार में सभी को मरना है।

वैशाली की प्रसिद्ध वैश्या अम्बपाली ने एक दिन उनको अपने यहाँ निमन्त्रण दिया। बड़ी नाक वाला समाज क्षुब्ध हो उठा कि बुद्ध एक वेश्या के घर खाना खायेंगे। पर वे वहाँ गये। उन्होंने सबको यह बतला दिया कि छूताछूत का भाव मूर्खता है, समाज में कोई भी नीच नहीं है। जिसमें सद्भाव है, वही पवित्र है।

एक दिन उन्हें प्यास लगी तो एक चमार की लड़की से पानी माँगा। वह चकरा गई। पर बुद्ध ने उसे बतलाया कि कोई छोटा या बड़ा नहीं है, सब बराबर हैं।

इस प्रकार ४५ वर्षों तक प्रचार करने के बाद वे पावा नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ चुन्द सुनार ने उन्हें भिक्षा-पान के लिये बुलाया और श्रद्धावश सूअर का माँस पकवाया। अहिंसा-व्रती बुद्ध भिक्षा में दी गई वस्तु अनादर न कर सके। उस भोजन से उन्हें खून की दस्त होने लगी वहाँ से वे कुशीनगर में, मल्लों के शालवन पहुंचे और वहीं पर एक वृक्ष के नीचे, दाहिनी करवट से लेटे, वे निर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय इनकी अवस्था ८० वर्ष की थी। बुद्ध का निर्वाण ईसा से ४८३ वर्ष पूर्व हुआ था।

सम्राट अशोक ने जिस धर्म का प्रचार चीन, जापान, तिब्बत, लंका तथा दूर फारस तक कराया उसी का प्रवर्त्तक महापुरुष स्वतः केवल हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत के भीतर ही अपने मंत्र का प्रचार करता रहा। जिस व्यक्ति के लिये उसके पिता ने, उसकी १६ वर्ष की अवस्था में, तीन ऋतुओं के लिये तीन महल बनवा दिये हों (जो क्रमशः नौ तल, सात तल तथा-पाँच तल के) जिसके मनोरंजन के लिये ४४ हजार स्त्रियाँ नाटक करने के लिये रखी गई हों, वही सब कुछ छोड़ कर

नगर नगर, गली गली यह उपदेश देता फिरता था:—जन्म में कष्ट है, रोग में कष्ट है, मृत्यु में कष्ट है,। कामना तथा वासना ही कष्टों की जड़ है। इनका क्षय होने से ही कष्ट समाप्त हो जाते हैं। आवागमन का चक्कर छूट जाता है। सच बोलो, धर्म का अनुकरण करो, अहिंसाव्रत का पालन करो"



महावीर

महावीर हनुमान जी का नाम है। पर यहाँ हम राम की सेना के वीर सेनापति हनुमान का वर्णन नहीं कर रहे हैं। यह महावीर भारत के पौराणिक युग के बाद की सबसे बड़ी विभूतियों में से हैं। महावीर तीर्थंकर जैन धर्म के प्रतिस्थापक तथा प्रवर्त्तक थे। इस धर्म का मुख्य उपदेश है कि:—"मनुष्य को जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिये तथा मरण के समय परम शान्ति का अनुभव करने के लिये आवश्यक है कि वह 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक्तप,' इन चार आराधनाओं का तत्व समझ ले। इसी को 'मूला राधना' कहते हैं।

वर्द्धमान महावीर का जन्म ईसा से लगभग ४७६ या ४७७ वर्ष पहले, एक क्षत्रिय राजकुल में, वैशालि नगर में, पटना से

२७ मील उत्तर, हुआ था। संसार की माया-ममता से मुँह मोड़कर इस राजकुमार ने वैराग्य ले लिये और एकदम वस्त्रहीन होकर, संसार का सब बन्धन तोड़कर आत्मचिन्तन करने लगे. बुद्ध की तरह इनका भी ब्याह हुआ था। इनको एक कन्या भी थी। पर उनके समान लम्बी चौड़ी यात्रा कर धर्म का प्रचार करते वे नहीं घूमे थे। इन्होंने वास्तव में ११ शिष्यों को ही उपदेश दिया था और ७२ वर्ष की उम्र में निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

जैनी कथायें इतनी विस्तृत और असम्भावित मालूम होती हैं कि उनमें से सार-तत्व निकाल लेना कठिन हो जाता है। उनका विश्वास है कि तीर्थंकर जैन धर्म के अन्तिम द्रष्टा और उपदेशक हुए हैं। २३ योनियों में जन्म लेने के बाद वही २४ वीं योनि में पूर्णत्व को प्राप्त वर्द्धमान महावीर हुए। उनका प्रथम जन्म ऋषभ यानी सुनहले सांड के रूप में हुआ था। तीर्थंकर का अर्थ है साधु। हमारे महावीर जो पूर्णत्व को प्राप्त वही साधु थे। "जिन" का अर्थ है जीतने वाला अर्थात् जिसने जनता की विचारधारा पर विजय प्राप्त करली है। इसी शब्द से "जैनी" तथा जैन धर्म बना। [illegible] में लगभग १५ लाख जैनी हैं। मेवाड़, गुजरात [illegible] तट आदि में इनकी बहुलता है तथा विशेष [illegible] समाज में इस धर्म के अनुयायी मिलेंगे। राजपूताना का माउन्ट आबू, गिरनार, शत्रुंजय तथा एलोर इनके प्रसिद्ध तीर्थस्थान हैं। शत्रुंजय के जैन मंदिर की संसार के सब सुन्दर मंदिरों में गणना होती है।

महावीर बुद्ध के समकालीन थे। दोनों धर्मों के प्रचारकों ने त्याग तथा भिक्षु वृत्ति को प्रमुख स्थान दिया। प्रबल मठों द्वारा ही धर्म का प्रचार होता था। तीर्थंकर के बाद, सब

कुछ त्याग कर, वस्त्र तक छोड़ कर रहने वाले "दिगम्बर जैनी" सम्प्रदाय के कहलाते थे और उनके विपरीत थे "श्वेताम्बर"। बौद्धों के "हीनयान" और "महायान" सम्प्रदायों की तरह जैन धर्म के भी दो टुकड़े हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों में किसी समय में आपस में बड़ा झगड़ा भी था। दोनों ही मत वाले अपने को अधिक प्राचीन तथा मूल घोषित करते हैं। पर, हमको इस विषय को तथा इसकी बारीकियों को जैनियों के लिये ही विचारार्थ छोड़ देना चाहिये।

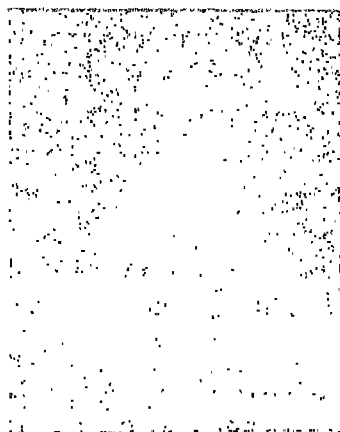
यद्यपि जैनी आज हिन्दुओं में एकदम मिले हुए हैं पर उनके तथा सनातन धर्म में एक बड़ा भारी अन्तर है। संसार में सब से बड़ा निरीश्वरवादी तथा ईश्वर की सत्ता की महत्ता को न स्वीकार करने वाला यही धर्म है। जीवन दुःखमय है। संसार पीड़ा की भूमि है। बार-बार जन्म-मरण बड़ा कष्टदायक है। मनुष्य को, जीव को अपने मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये। संसार में केवल जीव तथा जड़ पदार्थ हैं। जड़ पदार्थ के द्वारा ही जीव का संकल्प-विकल्प होता है। जीव की सत्ता अनन्त है। वह स्वयं कर्त्ता, धर्त्ता तथा अपने में लीन हो जाने वाली वस्तु है जब वह जड़ पदार्थ के संग दोष से अपने को छुड़ा लेता है, वह मुक्त हो जाता है। जीव का कभी नाश नहीं हो सकता। पर, जब वह क्षणभंगुर चीजों के साथ लिपटा रहता है, उसके कर्म का पहिया चलता रहता है। कर्म ही बन्धन है। कर्म ही जन्म मरण का लेखा बनता है। कर्म का क्षय होने से ही मुक्ति मिलती है। कर्म के क्षय के लिये कुछ मार्ग निहित हैं। अहिंसा परम धर्म है। किसी की हत्या मत करो। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने द्वारा किसी प्राणी की हानि न करो। घर को साफ़ रखो ताकि कीड़े न पैदा हों और न मरें। ब्रह्मचर्य, संयम तथा सत्य का पालन

करो। मांस, मदिरा, शहद या जड़ों के आहार का भी परित्याग तो आवश्यक है ही साथ ही साधु या तपस्वी के लिये मन का संयम, मन का व्यायाम, विचार की पवित्रता, अपने पापों को स्वीकार कर तथा आत्मचिंतन आवश्यक वस्तु हैं। इस प्रकार वर्द्धमान महावीर ने वैदिक युग की बिगड़ी बलिदान-प्रणाली पूजा-पाठ तथा ईश्वर-वादिता के विपरीत एक अत्यन्त सुधारक वातावरण पैदा करने का ही श्रीगणेश नहीं किया बल्कि बुद्ध की "प्राणिमात्र पर दया" के सिद्धान्त को बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँचा दिया। बुद्ध ने तपस्या तथा शरीर के सुखाने की क्रिया का तिरस्कार किया था पर जैनियों ने आत्म-तपश्चर्या को बहुत महत्व दिया है। आत्म-हत्या को जैनी पाप मानते हैं पर शरीर को चोला छोड़ने की इच्छा होने पर निराहार रह कर, बुढ़ापे में शरीर त्यागा जा सकता है। गृहस्थ भी धर्म के महान मंत्रों के अनुसार चलकर, समय पाकर सब कुछ त्याग कर, साधु हो सकता है। अगाध तथा महान् जैन साहित्य का एक अंश भी जिसने पढ़ा होगा, वह इस धर्म के मानने वालों की विद्या, पांडित्य तथा गंभीरता से प्रभावित हुए बिना न रहेगा। फिर भी, कहते हैं कि आज-कल जो जैन शास्त्र प्राप्त हैं, वे मूल ग्रंथों का एक टुकड़ा भी नहीं हैं।

जैन धर्म का वास्तविक प्रचार ईसा से ३१७ वर्ष पूर्व से हुआ। जैनी साधु जनता की भाषा में लिखते, पढ़ते, भाषण देते थे। अतएव वे शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। कहते तो यह भी हैं कि अपने शासन के अन्तिम काल में चन्द्रगुप्त मौर्य संन्यास लेकर जैनी हो गये और जैन साधुओं के साथ, धर्म-प्रचारार्थ दक्षिण भारत चले गये। जो हो, भद्रबाहु ने धर्म का प्रचार बड़े अच्छे ढंग से कराया। उनके बाद, अशोक के

पौत्र, सम्प्रति ने इसे अपनाया तथा वे जैन धर्म के प्रथम समर्थक नरेश थे। पर, इतिहास इस विषय में कुछ विशेष जानकारी नहीं कराता। यह तो अवश्य पता चलता है कि ईसवीय सन् ११२५ में गुजरात के प्रबल नरेश सिद्धराज ने इसकी बड़ी सेवा की। उनके कारण जैन धर्म का बड़ा उपकार तथा प्रचार हुआ पर, उसी समय के लगभग, अर्थात् ईसवीय सन् ११७४ या ११७६ में कट्टर हिन्दू नरेश अजयपाल ने उत्तर भारत में जैनियों को बड़ा तंग किया तथा उनके अनेक मन्दिर तोड़डाले। मुसलिम शासनकाल में भी जैनी काफ़ी पनप रहे थे और इतिहास तो यहाँ तक कहता है कि अल्लाउद्दीन खिलजी ने श्वेताम्बर जैनाचार्य रामचन्द्र सूरि का सम्मान किया था। आईन-ए-अकबरी में भी जैन साधुओं का ज़िक्र है।

अस्तु, समय पाकर कट्टर मुसलमान तथा कठोर ब्राह्मणों के दुहरे आक्रमण के कारण जैन धर्म भारत में अधिक न पनप सका, पर हमारी सम्मति में, ईश्वर का अस्तित्व न मानने के कारण भी वह अधिक लोकप्रिय न हो सका। जिस मूर्ति-पूजा तथा उपासना को महावीर ने ग़लत बतलाया था, जैनी उसी मार्ग पर चल पड़े। कृष्ण या राम के स्थान पर महावीर तीर्थंकर की महान् मूर्तियाँ बनने लगीं और उनकी पूजा-उपासना ठीक अन्य हिन्दू मन्दिरों के समान चल पड़ी। यह शायद भारत के आदि धर्म का एक प्रभाव मात्र था जिससे जैनी भी न बच सके।



शंकराचार्य

एक छोटी सी, दो पैसे मूल्य की पुस्तक है; उसका नाम है "प्रश्नोत्तरी,,। इसमें लेखक ने प्रश्न किया है तथा स्वयं उत्तर दिया है। पर संसार का समूचा दर्शन-शास्त्र तथा धर्म का भंडार इसी में भरा पड़ा है। प्रश्न तो ऐसे छोटे-छोटे हैं जैसे "को वा मृतो।" याने? किसकी असली मृत्यु समझनी चाहिये! उत्तर मिलता है, "यस्य पुनर्नजन्म" यानी जिसका फिर जन्म न हो। अर्थात्, जो आदमी इस दुनियाँ में बारबार पैदा होता और मरता रहता है, उसका मरना-जीना कोई अर्थ नहीं रखता। हरेक मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिये कि संसार के बन्धन से छुटकारा पाकर, परमात्मा में लीन हो जावे। इसी पुस्तिका के लेखक का बनाया प्रसिद्ध श्लोक-पुञ्ज "चर्पट पंजरिका" के नाम से है जिसमें बड़े अनूठे ढंग से

संसार की अस्थिरता, माया मोह का बन्धन आदि समझाया गया है। लेखक ने हर श्लोक के अन्त में लिखा है :—

"भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् मूढ़मते।"
वे संसार की निरर्थकता बतलाते हुए लिखते हैं:—

"पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।"

यानी बार बार जन्म लेना पड़ता है, बार बार मरना पड़ता है, बार बार माँ के पेट की जठराग्नि में जलना पड़ता है, इसलिये इस विकट संसार से उद्धार पाने के लिये हे मूर्ख, भगवान को, गोविन्द को स्मरण करो, उनके बन जाओ।

इस पवित्र मंत्र के प्रचारक का नाम है शंकराचार्य। जिस भारत में बौद्ध धर्म का डंका चारों ओर पिट रहा था तथा उस धर्म के मत में भी, हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय के झगड़ों के कारण वही खराबी आ गयी थी जो बुद्ध के जन्म के समय में हिन्दू धर्म में प्रवेश कर गयी थी, यद्यपि उनका रूप कुछ भिन्न था, उसी समय इस महान् पुरुष का जन्म हुआ था। बौद्धों ने, अर्थात् उनके भिक्षुओं ने अपना कदम जादू-टोना टोटका की ओर बढ़ा लिया था। वे तरह तरह के झगड़ों में फँस गये थे और समाज का जो नेतृत्व उन्हें करना चाहिये था, उससे वे विमुख हो गये थे। एक निजी स्वार्थपरता ने स्थान ले लिया था। हिन्दुओं के सनातन धर्म में जब ऐसा विकार उत्पन्न हो गया कि समाज वैदिक ऋचाओं को भूलकर, जीवन की एक-स्वरिता तथा समन्वय को खोकर केवल बाहरी आडम्बरों में फँसकर पाखण्ड, वितंडावाद आदि में भटकने लगा था, उस समय बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उस धर्म ने सत्य ही इन आडम्बरों के विरुद्ध झंडा उठाया। पर समय ऐसा आया कि बुद्ध के अनुयायी ने न केवल ईश्वर

की सत्ता ही अस्वीकार कर दी बल्कि आत्मा तक को छोड़ बैठा। जिस समय का हम उल्लेख कर रहे हैं उस समय तो बुद्ध के अनुयायी अपने नेता से बहुत दूर भटक गये थे और धर्म के उस मूल आधार पर ही कुठाराघात करने लगे जिसने भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँध रखा था। जिस प्रकार आन्तरिक आधार के बिना आचार व्यवहार तथा सामाजिक कार्य निष्प्राण होता है, उसी प्रकार आन्तरिक भावनाओं तथा धर्म के तात्विक रूपों को बिना प्रकटतः और आचरण द्वारा प्रकट किये हुए, वह भी निरर्थक होता है। इसीलिये आर्य सनातन धर्म आत्मज्ञान के साथ कर्मकांड का भी मेल करता है और आज्ञा देता है कि कर्मकांड का भी पालन होना ही चाहिये। आचार-व्यवहार का अपना निजी महत्व है और जिस समय वही बिगड़ जाता है, सभ्यता डाँवाडोल होने लगती है।

ईसा से सात सौ वर्ष बाद यही परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। बुद्ध के नाम पर समाज को आचार-भ्रष्ट किया जा रहा था। बौद्धों ने बुद्ध की उपासना को ईश्वर की पूजा के समान चालू कर दिया था। और ईश्वर को न मानते हुए भी वे घोर मूर्तिपूजक हो गये थे। पर चूंकि उस मूर्तिपूजा का कोई आधार न था, इसलिये वह समाज को किसी ओर नहीं ले जा रही थी। श्री कुमारिलभट्ट नामक विद्वद्वर ने वैदिक युग की ओर समाज को ले जाने की चेष्टा की पर भक्ति और ज्ञान का वह मार्ग न दिखला सके जो दिखलाना जरूरी था। कुमारिलभट्ट का समय सातवीं शताब्दि अनुमान किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन जी का कथन है कि "चूँकि शंकर के शारीरक भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने "भामती" टीका लिखी है, और वाचस्पति मिश्र का समय ईसा की नवीं शताब्दि उनके अपने ही ग्रन्थ से

निश्चित है, इसलिये शंकर का समय नवीं शताब्दि से पूर्व हो सकता है पर शंकर कुमारिलभट्ट के पूर्व के नहीं हो सकते हैं। कुमारिल बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति के समकालीन थे, जो सातवीं शताब्दि के पहले के नहीं हो सकते। शंकर कुमारिल के समकालीन थे और दोनों ने एक दूसरे से साक्षात्कार किया था, यह बात हमें "दिग्विजय" से मालूम होती है। "ह्यूनसाँङ् के अनुसार सातवीं शताब्दि के पूर्व किसी ऐसे प्रबल बौद्ध-विरोधी शास्त्रार्थी का पता नहीं मिलता। यदि होता तो ह्यूनसाँङ् अवश्य उसका वर्णन करता। यदि यह कहा जाय कि शंकराचार्य भारत के दक्षिण छोर पर हुए थे और उनका कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत ही रहा होगा, इसलिये सम्भव है दक्षिण भारत के बौद्धों पर उपर्युक्त अत्याचार हुए हों। पर, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि, छठी शताब्दि के बाद भी कांची और कावेरीपट्टन के रहने वाले आचार्य धर्मपाल आदि बौद्धपाली ग्रन्थकार हुए हैं, जिनकी कृतियाँ अब भी सिंहल आदि देशों में सुरक्षित हैं। "यदि कोई ऐसी बात हुई होती तो यह कभी संभव न था कि "महावंश" उनका कोई जिक्र न करता। एक ओर कहा जाता है कि शंकर ने बौद्धों को भारत से मार भगाया और दूसरी ओर, हम उनके बाद गौड़ देश (बिहार-बंगाल) में पालवंशीय बौद्ध नरेशों का प्रचंड प्रताप फैला देखते हैं, तथा उसी समय उड़न्तपुरी और विक्रमशिला जैसे बौद्ध विश्वविद्यालयों को स्थापित होते देखते हैं।"

हमने कुछ विस्तार के साथ प्रसिद्ध पण्डित तथा बौद्ध धर्मावलम्बी राहुल सांकृत्यायन का उद्धरण देकर दो तीन बातें स्पष्ट कर दी हैं। एक तो यह कि शंकराचार्य जी का काल सातवीं शताब्दि का अन्त है। उन्होंने बौद्धों पर कोई अत्याचार नहीं किया। वे एक प्रकाण्ड विद्वान् तथा हिन्दू धर्म की ध्वजा को ऊँचा करने वाले व्यक्ति थे। हिन्दू धर्म का जो डंका उन्होंने

बजाया था, उसमें अपने तर्क तथा विद्या के जोर से ही बौद्धों पर विजय प्राप्त की थी और सनातन धर्म का झंडा फिर से गाड़ दिया था। उस समय से बौद्धधर्म का पक्ष जो कमजोर हुआ तो फिर पहले की तरह कभी मजबूत न हो सका।

शंकराचार्य के सम्बन्ध में उनकी बाल्यकाल की कथायें बहुत कम प्राप्त हैं। जन्म आदि के विषय में कोई इतिहास नहीं है। बहुत कुछ तो अनुमान से काम लेना पड़ता है। उनके शिष्यों की गद्दी से भी कुछ जानकारी हासिल हो सकती है। केरल देश में उनका जन्म हुआ था। बाल्यकाल में ही इस महासाधु ने संसार की ममता त्याग दी और पूर्व जन्म के संचित ज्ञान के आधार पर, मानव लीला से उदासीनता ग्रहण कर ली। माता से अनुमति लेकर वे सन्यासी होगये और तत्कालीन संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी में आकर शिक्षा ग्रहण की। समूचा शास्त्र तथा चारों वेदों का पूर्ण अध्ययन कर, अपनी अद्भुत प्रतिभा के कारण वे विद्वान्‌मंडली में अत्यन्त आदर के पात्र हो गये। लोग इस युवक बालक की १५ वर्ष की उम्र में विद्या, समझ तथा सूझ देखकर चकित होगये। बहुत छोटी उम्र में ही "शारीरिक भाष्य" ग्रंथ लिखा। यह एक नये ढङ्ग की चीज थी। उसमें कितने ही दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर बहस की गई थी। पर, उस समय, भारत में दिङ्‌नाग, कुमारिलभट्ट, उद्योतकर आदि बड़े बड़े विद्वान् मौजूद थे। कहते हैं कि उस समय सबसे बड़े विद्वान् मंडन मिश्र थे जिनकी धर्मपत्नी स्वयं सरस्वती की अवतार कही जाती थीं। मंडन मिश्र द्वैत सिद्धान्त मानते थे यानी ईश्वर तथा आत्मा दो वस्तु हैं। पर शंकराचार्य जी अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। उनका कहना था कि आत्म तथा परमात्मा दोनों एक ही हैं। संसार में सब कुछ एक ही "महान्" में व्याप्त है। अन्त में यह

निश्चय हुआ कि भारत में दो महाविद्वानों को एक ही धर्म को दो रूप से प्रतिपादित करने के लिये स्थान नहीं है। अतएव दोनों में जो शास्त्रार्थ में पराजित हो जावे, वह चिता लगाकर जल कर प्राण दे दे। दोनों में बहस छिड़ी। मंडन की स्त्री सभानेत्री बनीं। छः महीने तक लगातार बहस होती रही। मंडन मिश्र पराजित हुए। शङ्कर की जीत रही। मण्डन मिश्र सपत्नीक चिता पर बैठ रहे और शङ्कर ने आचार्य का पद ग्रहण कर अद्वैत सिद्धान्त के विजय के लिये समूचे भारत को छान डाला था। शङ्कर ने शास्त्राथ कर विद्वानों को पराजित कर अद्वैत सिद्धान्त को दृढ़ता पूर्वक स्थापित कर दिया। यही "शङ्कर दिग्विजय" है। वह सरल तथा सभ्य भाषा में वे अपना प्रवचन करते थे। बुद्ध के व्यक्तित्व पर उन्होंने कभी भी आक्षेप नहीं किया। भारत के चारों कोने में उनके चार केन्द्र स्थापित हुए और इन्हीं स्थानों अथवा मठों के प्रधान उनके बाद जगद्-गुरु शङ्कराचार्य की उपाधि से विभूषित हुए। शङ्कराचार्य जी के १२ प्रधान शिष्य थे इनमें ८ उच्चश्रेणी के तथा ४ निम्न श्रेणी के। इनका महत्व भारतीय धार्मिक इतिहास में बहुत कुछ है।

शंकराचार्य जी मनुष्य मात्र को जागृत करते थे और उससे कहते थे कि "तू अपने से पूछ कि तू कौन है। कहाँ जावेगा? तेरा परिणाम क्या है? जीवन का क्या उद्देश्य है। जिसने अपने जीवन का उद्देश्य नहीं स्थिर किया, उसका जन्म व्यर्थ है। अतः जीवन का रहस्य समझ लेना परमावश्यक है। संसार अन्धे की तरह सुख के पीछे भटक रहा है। उसे लगातार संघर्ष करना पड़ता है केवल सुख की प्राप्ति के लिये! यह तो सत्य है कि सुख की इच्छा स्वाभाविक तथा प्राकृतिक है। पर सुख की परिभाषा न जानने से ही कष्ट प्रारम्भ होते हैं। सृष्टि का आदि कर्त्ता

परब्रह्म सुख और दुःख से परे है। अतः उसी परब्रह्म का अंश जीवमात्र दुःख से परे भागना चाहता है, और दुःख की समाप्ति को ही सुख समझता है। पर वास्तव में जहाँ सुख और दुःख का कोई भाव ही नहीं रहता, जहाँ केवल अपने भीतर बैठकर परब्रह्म से (अपनी असली सूरत से) साक्षात्कार होता है, वही परम सुख है। इसलिये मनुष्य को यह जानना चाहिये कि उसमें और परब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। उसे अपने असली रूप में मिल जाना है। वह स्वयं सर्वज्ञ है, परमात्मा है, ईश्वर है। इसी का नाम मोक्ष है, इसी का नाम अद्वैत पद है।" बौद्ध हरेक जीव की सत्ता को स्वतः सिद्ध मानते हैं। पर शंकर कहते हैं कि सब कुछ एक ही रूप के प्रतिबिम्ब हैं। सबका सबमें मिल जाना ही अन्तिम उद्देश्य है। किसी प्राणी पर दया करना या उसकी रक्षा करना कोई दया का काम नहीं है; अपने साथ ही न्याय करना है। तू मैं हूँ। मैं तू है। हरेक प्राणी पर दया करनी चाहिए, अपने आचार विचार को शुद्ध रखना चाहिये। गृहस्थाश्रम द्वारा भी मनुष्य आत्म-कल्याण कर सकता है पर अन्त में सब कुछ छोड़कर, त्यागकर, सन्यासी बनकर, आत्मचिन्तन करना चाहिये।

यहाँ पर शंकर के मत की बारीकी समझाने या उनके तथा बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की विभिन्नता दिखलाने का स्थान नहीं है। उनका मूलमंत्र था, "अपने को पहचानो" और यही सिखाते-सिखाते, अनेक महान् पांडित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखकर, समूचे भारतवर्ष में हिन्दू धर्म का डङ्का पीटकर, केवल ३२ वर्ष की उम्र में उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। इतनी कम उम्र में, इतना अधिक कार्य संसार में किसी ने नहीं किया। शङ्कराचार्य को हिन्दू भगवान शङ्कर का अवतार मानते हैं।



रामानुज

पिछले अध्याय में हमने जगद्गुरु शङ्कराचार्य के विषय में रोचक तथा ज्ञातव्य बातें लिखी हैं। उनके उपदेश का मूल तत्व यह था कि आत्मा तथा ब्रह्म एक है। ब्रह्म अनन्त, अविभाज्य, अपरिवर्त्तनशील तथा निर्गुण और निराकार है। परम सत्य केवल यही है। इसके अतिरिक्त सब कुछ माया तथा मिथ्या है। अविद्या है। यह संसार एक स्वप्न मात्र है। जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के भीतर बैठे प्रकाश को देखने लगता है, वह संसार के मोह-जाल को भूल जाता है। वह अजर, अमर तथा परम ज्ञानी हो जाता है। वह जीवन मुक्त हो जाता है। इसलिये संसार का सब कुछ त्यागकर, आत्मज्ञानी बनना चाहिये। शंकर के इस सिद्धान्त को अद्वैतवाद कहते हैं।

उनके तीन सौ वर्ष बाद एक ऐसी विभूति का आविर्भाव हुआ जिसने शङ्कर के सिद्धान्तों से भी आगे बढ़कर अपना मत प्रतिपादन किया। शङ्कराचार्य ने मानव-जीवन को इतना शुष्क, सूखा और नीरस घोषित कर दिया था और कर्म के बन्धन को इतना ओछा बतला दिया था कि जब तक आदमी उतने ऊँचे तक सोच समझ न पाये, वह एक प्रकार से अन्धकार में पड़ जाता है। उसकी शिक्षा आगे चल कर साधारण लोगों के समझ में आने लायक नहीं रह गयी थी। जब-तक कि अच्छे विद्वान् बराबर उपदेश न देते रहें। इसलिये हिन्दू-धर्म्म में फिर एक गड़बड़ सी मचने लगी और कोई किधर भागने लगा तो कोई किधर। इसी युग में, यानी शंकर के समय में, पल्लवों के प्रबल शासनकाल में दक्षिण भारत में एक और सम्प्रदाय अपनी नींव जमा रहा था। वे भी वैष्णववाद के प्रतिपादक थे। नाथमुनि नामक इनके एक महापंडित हो गये थे। उन्होंने योग के दो लुप्त ग्रन्थों का उद्धार किया। विष्णु की उपासना के मंत्र बनाये। शंकराचार्य ने "विष्णु सहस्रनाम" की परिभाषा करके यह सिद्ध कर दिया था कि सभी नाम परब्रह्म की विभूतियों को व्यक्त करने के लिये हैं। नाथमुनि ने अवतारवाद तथा प्रपत्ति का सिद्धान्त पुनः चालू किया। इन्होंने आत्मसिद्धि, सम्मृतसिद्धि तथा ईश्वरसिद्धि का मंत्र जगाया। विष्णुही परम पुरुष हैं और माया तथा अविद्या का प्रादुर्भाव भी उन्हीं से हुआ है। इसलिये विष्णु की भक्ति करने से ही अविद्या तथा माया-मोह का नाश होता है। यही भक्ति मार्ग है। इस मार्ग को उन्होंने सिखाना शुरू किया। ईश्वर से उन्होंने प्रार्थना की कि इस मार्ग के प्रचार के लिये कोई महापुरुष भेजें। उनके पौत्र का नाम था यमुना। वे बड़े विद्वान तथा कट्टर वैष्णव

थे। श्री-रंगम में उनका निवास स्थान था। ग्यारहवीं शताब्दि के मध्य में, जब कि उनका बुढ़ापा आ रहा था, उन्होंने यह महसूस किया कि किसी ऐसे महापुरुष का जन्म होना चाहिये। इसलिये वे बड़ी श्रद्धा के साथ भगवान् से इसकी प्रार्थना करने लगे। उनकी प्रार्थना सुन ली गयी।

शकाब्दि ९३९ में, अर्थात् इसवीय सन् १०१७ में, इनके एक पौत्र को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पौत्र ने वर्त्तमान पेरुमबुदुर (भूतपुरी) निवासी एक भक्त ब्राह्मण की कन्या से विवाह किया था। यह स्थान काँची याना काँजीवरम से २४ घंटे की यात्रा पर था। इस भक्त कन्या को जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम रामानुज रखा गया। बचपन से ही इस लड़के ने बड़ी प्रतिभा तथा तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया। १५ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने बहुत कुछ सीख पढ़ लिया। इनका विवाह भी इसी उम्र में हुआ। पर, इसके बाद ही इनके पिता केशव सोमयाजी का देहान्त हो गया और रामानुज अपनी माता तथा स्त्री को लेकर कान्ची चले गये। उनकी इच्छा थी कि वहां रह कर अद्वैत सिद्धान्त में पारंगत हो जावें। वहाँ पर यादव प्रकाश नामक बड़े विद्वान रहते थे जिनके चारों ओर काफी शिष्य घेरे रहते थे। पर यादवजी शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनन्य भक्त न थे। वे उसमें भी अपनी टीका-टिप्पणी करते रहते थे। "ब्रह्मसूत्र" की शांकरी टीका से उनकी टीका भिन्न थी। रामानुज ऐसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी से उनकी अकसर बहस हो जाया करती था और इस बहस के कारण जहाँ विद्यार्थीगण उनसे बड़े प्रसन्न रहते थे और उनका बड़ा आदर करते थे, वहीं यादवजी नाराज़ रहा करते थे। कुछ समय बाद यादव जी ने अपनी शिष्य मंडली के साथ काशी यात्रा की और उसी यात्रा में रामानुज

को पता चला कि यादवजी उनको कहीं अन्यत्र छोड़ देंगे या उनकी हत्या करा देंगे। घबड़ा कर रामानुज भागे और भाग कर फिर काँची वापस आगये। मजे की बात तो यह है कि यादवप्रकाश के यात्रा से वापस आने पर, वे उनके शिष्य बनकर पुनः उन्हीं से पढ़ने लगे।

वयोवृद्ध यमुना को अपने इस प्रपौत्र की प्रतिभा तथा पांडित्य का ज्ञान था और वे जानते थे कि उनके काम को वही पूरा करेगा। अतएव उन्होंने रामानुज को बुलवा भेजा। वे रामानुज को अपनी गद्दी पर विठाना चाहते थे। पर जब रामानुज श्री-रंगम पहुँचे, उनको नगर की सीमा पर ही उस महात्मा का शव-रथ मिला। इससे इनके दिल पर गहरा धक्का पहुँचा। इन्होंने यमुना के संकल्प को पूरा करने का प्रण किया। पर इसके लिये यह आवश्यक था कि किसी से दीक्षा ले ली जावे। हिन्दू-धर्म में दीक्षा लिये बिना धर्म प्रचार का कार्य अधूरा समझा जाता है। पर, बहुत भटकने पर भी गुरु नहीं मिल रहा था। उधर परिवार की झंझट तथा गृहस्थाश्रम का बोझ भी बड़ा परेशान किये हुए था। माता का देहान्त हो चुका था, पर पत्नी का भार तो था ही। अन्त में पत्नी के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर, कांची के विष्णु-मन्दिर में इन्होंने सन्यास व्रत धारण कर लिया और धर्म तथा समाज की सेवा के लिये अपना सब कुछ उत्सर्ग कर डाला। इस समय इनकी अवस्था ३० वर्ष के रही होगी। श्री-रंगम में यमुना की गद्दी पर ये आचार्य बनकर बैठ गये।

पहले तो इन्होंने बहुत कुछ साहित्यक कार्य किये। बड़े-बड़े ग्रन्थों पर टीका वार्तिक आदि लिखे। डूबे हुए ग्रन्थों का उद्धार किया। "श्रीभाष्य" इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ है। भगवद्गीता की व्याख्या लिखी और जहाँ शंकराचार्य ने इस ग्रन्थ की व्याख्या

द्वारा निष्कर्म तथा एकदम अनासक्ति का तत्व निकाला था. रामानुज ने इसका रुख ईश्वर की भक्ति की ओर बदल दिया। "विष्णुसहस्रनाम" की भी इन्होंने अपनी व्याख्या लिखी।

रामानुज के उपदेशों का अपना निजी महत्व है। उन्होंने शंकराचार्य के निराकार, निगुण ईश्वर को साकार तथा साधारण व्यक्ति के लिये बोधगम्य कर दिया। जो आत्मा परम को सीमा पर न पहुँच कर अपनी ईश्वरीयता का आनन्द नहीं ले सकती थी, उसी आत्मा को अपनी पहुँच के भीतर एक साकार, शरीरधारी ब्रह्म मिल गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूल तत्व वही रहा जो शंकराचार्य जी समझा गये थे, पर, उसी तत्व को जनता के सामने और भी अधिक समझ में आने वाले रूप में रख दिया गया। प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् मैक्स-मूलर के शब्दों में, "रामानुज ने मनुष्यों को एक भगवान् दे दिया। हिन्दू-धर्म को उसकी खोई हुई आत्मा वापस कर दी।"

रामानुज जी का सिद्धान्त था कि ईश्वर अविभाज्य है। एक है। सम्पूर्ण है। ब्रह्म है। पर उसी के अन्तर्गत पुरुष और प्रकृति है, "चित्" और "अचित्" है। चित् ही आत्मा है और अचित ही प्रकृति है, संसार का बाह्य रूप है। दोनों ही सत्य और चिरन्तर हैं। इन दोनों का समन्वय ही ब्रह्म है। जड़ और चेतन, गुण और दोषमय दोनों ही ब्रह्म है। इसलिये उसी की—उसी भगवान् की आराधना करने से चित् की प्राप्ति और अचित् से छुटकारा मिलता है। अद्वैत होते हुए भी उसके दो रूप हैं—इसीलिये, इस बात को, इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले रामानुज को "विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त" का प्रवर्त्तक मानते हैं। यह बात ध्यान में रहे कि शंकर हो चाहे रामानुज, किसी ने कोई

नया धर्म ग्रन्थ या नया मत प्रतिपादित करने का दावा कभी नहीं किया। दोनों ने ही हमारे वेद तथा शास्त्र के सिद्धान्तों की अपने ढंग से व्याख्या की। रामानुज के कथनानुसार ईश्वर की लीला तथा इच्छा से ही संसार का सब कुछ हो रहा है। चित् और अचित् का नाटक एक कल्प तक यानी प्रलयकाल तक चलता रहेगा। उसी समय सब कुछ ब्रह्म में लीन हो जावेगा, फिर भी चित् और अचित् विद्यमान रहेंगे। चूंकि सृष्टि की रचना भी उसी ईश्वर की इच्छा के कारण, ब्रह्म की कल्पना के कारण हुई है, इसलिये माया इत्यादि भी "झूठ" नहीं है। सच है। उनकी सत्ता है। माया संसार में व्याघात भी उत्पन्न करता है और करती रहेगी। कर्म-पाश से छुटकारा पाने के लिये यह जरूरी है कि ईश्वर की दया का, कृपा का आवाहन किया जावे। ज्ञान-पूर्वक भगवान् की भक्ति करने से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य के नित्य के जीवन के लिये कर्म आवश्यक हैं। उनका पालन करते हुए जीवन यापन करना चाहिये।

रामानुज जी के सभी ग्रंथ संस्कृत में हैं। पर उनके ग्रंथों का बड़ा प्रचार और आदर हुआ। इनके कार्य में बड़ी बाधायें भी आईं। उन दिनों एक मूर्खता-पूर्ण धार्मिक विवाद उठ खड़ा हुआ। कुछ लोग शंकर भगवान को सबसे बड़ा देवता मानते थे और कुछ लोग विष्णु को। इस प्रकार शंकर के मानने वाले "शैव" और विष्णु को मानने वाले "वैष्णव" कहलाते थे रामानुज जी इन मूर्खताओं से बहुत दूर थे। फिर भी उनको वैष्णव सम्प्रदाय का समझ कर "शैव" लोग उनके विरोधी हो गये। उन दिनों श्री-रंगम चोल-साम्राज्य के अन्तर्गत था और चोल नरेश कुलोतुंग प्रथम ने वैष्णवों पर अत्याचार करना शुरू किया। रामानुज वहाँ

से भागकर मैसूर नरेश के आश्रम में गये। यहाँ पर होयसाल वंशीय बल्लाल, विट्ठलदेव का शासन था। यहां पर इनका मान सम्मान हुआ और विट्ठलदेव कट्टर वैष्णव तथा रामानुज के शिष्य बन गये। यदुगिरि (मेलकोट) का प्रसिद्ध नारायण मन्दिर इसी समय बना। चोल नरेश ने रामानुज के शिष्यों को बहुत पीड़ा पहुँचाया। एक को तो अन्धा कर दिया गया। सन ११९७ में कुलोतुङ्ग की मृत्यु के बाद श्री रामानुज श्री-रंगम् वापस आये और लगभग १०० वर्ष की उम्र में संसार से सम्बन्ध छोड़कर ११३७ में जीवन्मुक्त होगये। पर, उनके कार्यों की अमिट छाप हिन्दू-समाज पर पड़ चुकी थी।



बाबा कबीरदास

भारत के बाहर से शक और हूण आये और वे हिन्दू धर्म में घुल मिल गये। पर मुसलमानों का धर्म भी महान था। उसमें नयी स्फुर्ति और धार्मिक जोश था। वे भारत में आकर तलवार के जोर से, लाखों हिन्दुओं को अपने धर्म में मिलाने लगे। कट्टर मुसलिम शासकों ने हिन्दुओं पर ज्यादतियाँ भी की। इस कारण इस देश में दोनों धर्मों के बीच में एक निरन्तर कलह छिड़ गया। इस कलह की बहुत कुछ जिम्मेदारी दिल्ली के शुरू के मुसलमान शासकों पर भी थी।

दिल्ली की गद्दी पर मुहम्मद बिन तुगलक ने २६ वर्ष राज्य किया। सन् १३२५ में यह गद्दी पर बैठा और १३५१ में इसकी मृत्यु हुई। इसके राज्य के विषय में यह कहा जाता है कि लगातार बलवे होते रहे और बादशाह बराबर बेरहमी से उन्हें

दबाता रहा। पर, मुस्लिम शासन को यह मजबूत नहीं कर सके थे। इनके बाद, २३ मार्च, १३५१ को, हिन्दू मुसलमानों की रजामन्दी से फीरोजशाह नामक इनके एक रिश्तेदार गद्दी पर बैठे। कई दृष्टियों से यह योग्य शासक था पर कट्टर सुन्नी मुसलमान था। इसने एक ओर तांत्रिक हिन्दुओं पर बड़ा जुल्म किया, दूसरी ओर शिया मुसलमानों को नेस्तनाबूद कर डालने के लिये उन्हें बड़ी यातना दी। इसी ने यह नियम बनाया कि जो काफ़िर मुसलमान बन जावेगा उसे जजिया कर से छुटकारा मिल जावेगा।

ऐसे शासक के समय दृढ़ सरकार स्थापित हो ही नहीं सकती थी। सन् १३८८ में फीरोजशाह की मृत्यु के बाद ही चारों ओर बग़ावत फैल गई। दिल्ली में ही दो सुलतान बन गये। फ़िरोजशाह का पौत्र महमूद पुरानी दिल्ली में राज करता था और उससे कुछ ही दूर, फ़िरोजाबाद में फ़िरोज के रिश्तेदार नसरत शाह हाकिम बने बैठे थे। ऐसे ही समय में, सन् १३९८ में तैमूरलंग ने हिन्दुस्तान पर हमला किया और दिल्ली तक का देश उजाड़ डाला। हजारों औरत-बच्चे भी उसकी सेना के पैरों तले कुचल गये। उसने न हिन्दू देखा न मुसलमान। तैमूर के वापस जाने के बाद दिल्ली के तख्त पर लोदी खानदान बैठा। इसी खानदान के सिकन्दर लोदी ने मथुरा तहस-नहस कर डाला था।

देश की ऐसी दुरवस्था के अवसर पर महान् हिन्दू धर्म का अन्तरात्मा सिसकियाँ ले रही थी। लोगों में न तो धर्म का बल था, न कस-बल। जब यह तय था कि हिन्दू मुसलमान, दोनों को एक ही देश में रहना है तो उनको एक दूसरे के महान् धर्म को पहचानना और उसके प्रति आदर करना जरूरी था। ईश्वर एक है। उसके हरेक बन्दे खुदा के बन्दे

है और न कोई छोटा है, न बड़ा। सबको सबके साथ प्रेम कर, अपनी आत्मा को पहचानना चाहिये और अपने चरित्र को सुधारना चाहिये। इसी मंत्र का उपदेश देते हुए दक्षिण भारत से, रामानुज सम्प्रदाय के ही महात्मा रामानन्द उत्तर भारत में प्रचार करते हुए आये। वे ईश्वर की भक्ति सिखलाते थे अवतार वाद में विश्वास रखते थे, और उनका कहना था कि जब-जब धर्म की हानि होती है, भगवान धर्म की रक्षा के लिये जन्म लेते हैं। उनका यह भी कहना था कि आत्मा अमर है पर कर्म बंधन के कारण बारबार जन्म लेना पड़ता है और कर्म के बंधन से छुटकारा पाने के लिये अपना चरित्र शुद्ध रखना चाहिये।

स्वामी रामानन्द के चारों ओर भक्त मंडली इकट्ठा हो जाती थी और सीताराम या कृष्ण का गुण गाया करती थी। इनका एक चेला चमार था जिसका नाम रैदास था। एक नाई चेले का नाम था सेना। रैदास बड़े पहुँचे हुए महात्मा होगये हैं। उन्हीं का यह प्रसिद्ध मंत्र है:—

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि का होई"

स्वामी रामानन्द का जन्म सन् १४०० में हुआ था और वे ४७ वर्ष की उम्र में ही संसार से चल बसे थे। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय विद्या तथा हिन्दू धर्म के केन्द्र काशी में बिताया था। इन्हीं के समय में, हिन्दू धर्म के सम्पर्क में आकर, सूफ़ी मत चल निकला था। सूफ़ी भक्त बड़े उदार मुसलमान थे और हिन्दू भक्तों के साथ मिलकर सभी धर्मों के महात्माओं की वंदना किया करते थे। रामानन्द जी तथा उनके शिष्य वर्ग हिन्दी में ही प्रचार करते थे। इसलिये उस समय संयोग ऐसा मिल गया था।

कि उस सच्ची भावना का समाज को पूरा फल देने वाला उत्पन्न हो। यह कार्य बाबा कबीरदास ने किया। कबीर, नानक, सूफ़ी मत के जलालुद्दीन, रूमी, हाफ़िज सबका एक ही मार्ग है और अकबर बादशाह इन्हीं के मार्ग पर चले थे।

कबीर के जन्म के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि सन् १३९८ में एक हिन्दू विधवा के पेट से इन्होंने जन्म लिया था। इसके विषय में भी कोई निश्चित् बात नहीं कही जा सकती। काशी के एक मुसलमान जुलाहे नूरा को यह बच्चा सड़क पर पड़ा मिला और उसी ने इसको पाला, पोसा। समय पाकर वे एक मुसलिम मक़तब यानी पाठशाला में भेजे गये। पर मौलवी साहब की शिक्षा से उस बालक को संतोष नहीं हुआ और वे वहाँ से भाग आये। बचपन से ही धर्म-जिज्ञासा ने उन्हें विचलित कर दिया और वे सत्य की तलाश करने लगे। कहते हैं कि अष्टानन्द नामक एक सन्यासी ने उन्हें हिन्दू धर्म का सिद्धान्त समझाया। कबीर को दोनों धर्मों का तत्व समझ में आने लगा था और नमाज़ पढ़ने के समय में उनके मुँह से राम-राम, हरि-हरि सुनकर मुसलमान बिगड़ पड़ते थे और ब्राह्मण एक मुसलमान जुलाहे को जनेऊ पहने, तिलक लगाये देखकर, अपने धर्म का सत्यानाश होते देखकर, डंडा लेकर उठते थे। किन्तु, कबीर के युवक मस्तिष्क में धर्म के ठेकेदारों के बाहरी आडम्बरों के विरुद्ध बलवा करने की सूझ गई थी। वे इस पर कटिबद्ध होगये थे।

इसी समय, काशी की गलियों में स्वामी रामानन्द भजन का मधुर रस पिलाते घूमा करते थे। कबीर ने इनका भजन सुना और मुग्ध हो गये। अन्त में इन्होंने रामानन्द जी से दीक्षा ली। वे गुरु की बड़ी सेवा करते थे। यद्यपि कबीर बिल-कुल अपढ़ व्यक्ति थे, पर गुरु की बातें तथा काशी के पंडितों का

नहस मुबाहसा सुनते-सुनते इनको वेदान्त का अच्छा ज्ञान हो गया था। इसी प्रकार कुरान तथा मुसलिम-धर्म की बारीकियों से भी वे काफ़ी परिचित होगये थे।

कबीरदास जी गृहस्थ साधु थे। कहते हैं कि इनके दो विवाह हुए थे। पहली स्त्री बड़ी कुरूपा तथा छोटी जाति की थी। उसके देहान्त के बाद लोई नामक सुन्दर, सुशील तथा साध्वी स्त्री से इनका विवाह हुआ। इस स्त्री से इनको कमाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। आगे चल कर कमाल पूरे वैरागी साधु निकले। इसीलिये कबीरदास जी ने लिखा:—

"डूबा वंश कबीर का, उपजे पूत कमाल"

कबीर जुलाहे के घर पले थे इसलिये अपना पेशा इन्होंने कभी न छोड़ा। बड़ी सादी चाल से रहने वाले आदमी थे। दिन भर कपड़ा बुनते और उससे जो आमदनी होती, अपने बूढ़े पिता नूरा का पालन करते और साधु तथा फ़क़ीरों को खिलाते। ये बड़े ऊंचे दर्जे के कवि थे और इनका सब उपदेश कविता में ही है। बहुत सी रचनायें तो ऐसी गूढ़ हैं कि पहुँचा हुआ साधु ही उनका अर्थ लगा सकता है। एक बार उन्होंने लिखा कि :—

"एकादशी को मछली खाय।
वह सीधे बैकुंठे जाय॥"

हिन्दू धर्म के अनुसार एकादशी को मांस खाना महा पाप है। पर कबीरदास जी का मतलब था कि यदि एकादशी के दिन अपना मुर्दा मछली खा ले तो बड़ा पुण्य होता है। अपना शरीर सार्थक हो जाता है।

कथा है कि दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोधी के पास मुसलमानों ने कबीर के खिलाफ़ शिकायत की। बादशाह ने उनको बुलवा भेजा। वहाँ उन्होंने बादशाह को सलाम तक नहीं

किया। पर, उनसे बातचीत कर सिकन्दर बड़ा खुश हुआ कबीर के वापस आते ही मुसलमानों ने मुल्ला तकी नामक एक कट्टर मुसलमान को उभाड़ा। इनका दिल्ली के दरबार में काफी असर था कबीर फिर दिल्ली बुलाये गये। इनसे कहा गया कि यदि वे कट्टर मुसलमान बनकर न रहेंगे तो उनको सजा दी जावेगी। पर, मरने जीने को जो आदमी एक तमाशा समझता है, उसे किसका डर। बादशाह के हुक्म से कबीर साहब हाथ पैर बाँध कर पानी में फेंक दिये गये, फिर भी न डूबे हाथी के सामने फेंके गये, उसने कुचला ही नहीं। परेशान होकर बादशाह ने इन्हें छोड़ दिया।

कबीर का कहना था कि ईश्वर सर्वत्र है। इसलिये हिन्दू लोग यदि काशी में मरने से मोक्ष मानते हैं तो भूल करते हैं। काफी लम्बी उम्र भोगने के बाद, १२० वर्ष की उम्र में बाबा ने शरीर छोड़ा। काशी से बाहर, मगहर नामक स्थान में। इनके मरने पर मुसलमान इनको दफनाना चाहते थे और हिन्दू जलाना। दोनों में झगड़ा होने लगा। पर, मुर्दे पर से चादर उठाकर देखी गई तो वहाँ केवल गुलाब के ताजे फूल थे। हिन्दुओं ने उन फूलों को जलाकर उस स्थान पर एक मन्दिर बनवा दिया और मुसलमानों ने अपना फूल दफना कर मस्जिद बनवा दी। मगहर स्थान में हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रतीक ये मन्दिर-मस्जिद एक दूसरे के सामने खड़े हैं।

इनके चार प्रधान शिष्य थे। उनमें इनकी स्त्री लोई तथा लड़का कमाल प्रथम और द्वितीय हैं। तीसरे थे धर्मदास और चौथे सूरत गोपाल साहिब थे। कबीरदास जी की गद्दी अब भी वर्त्तमान है और काशी में कबीरचौरा मुहल्ले के मठ में कबीरपन्थियों का मुख्य स्थान है। मध्यप्रदेश में भी कबीरपन्थियों का बड़ा केन्द्र है।

भारत की वर्तमान हिन्दू-मुसलिम समस्या का निपटारा कबीर साहब का अनुकरण करने से ही हो सकता है। इतना बड़ा साधु या फकीर संसार में बिरला पैदा होता है। इनके उपदेशों को साखी कहते हैं। एक-एक साखी अमूल्य है। उदाहरण के लिये :—

१. जो तोकूं काँटा बुए, ताहि बोइ तू फूल।
तोको फूल के फूल हैं, वाको है तिरशूल॥
२. माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का माला छाँड़िकर, मन का माला फेर॥
३. जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढ़न चली, रही किनारे बैठ॥
४. साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हिरदय आप॥
५. फिकिर तो सबको खा गयो, फिकिर तो सबकी पीर।
फिकिर का फाका जो करे, कहिये ताहि फकीर॥
६. पसु की होत पनहिया, नर का कछु न होय।
उत्तम करनी न करे, नर नारायण होय॥
७. जग में दिया अनूप है, दिया करो सब कोय।
कर का धरा न पाइये, जा घर दिया न होय॥



गुरु गोविन्दसिंह

"जो बोलै सो निहाल
सत श्री अकाल"—

का जब गगन भेदी नारा लगता है तो मुर्दा से मुर्दा भारतीय भी वीरता तथा साहस की भावना से भर जाता है। हमारे देश के लगभग ३० लाख सिखों का यही मूलमंत्र है। इसका अर्थ स्पष्ट है। जिसका काल नहीं है, मृत्यु नहीं है, ऐसे परमात्मा की सत्ता ही वास्तव में सत्य है। उसका जो भी नाम लेगा, वह प्रसन्न रहेगा।

भारत में मुसलमानी आक्रमणों का सब से प्रबल वेग पंजाब को ही सहना पड़ा था। कट्टर पन्थी मुसलिम शासकों ने

पंजाबी हिन्दुओं को बड़ा कष्ट भी दिया था यद्यपि उदार मुस लिम शासकों की नीति भिन्न थी। इसलिये वहां के हिन्दू धर्मा वलम्बी केवल कष्ट में ही नहीं थे, उनका काफी पतन भी हो चुक था। न तो उनके पास राजनीतिक शक्ति थी और न पैसे रुपर से खुशहाल थे। इसलिये गुलामी, गरीबी दोनों ने मिलकर ५०० सौ वर्ष में हिन्दू समाज की बड़ी बुरी दशा कर दी थी। जो लोग पेट नहीं पाल सकते थे, वे लोग साधु बनकर ठोकर खाते फिरते थे। असली धर्म भूलकर गृहस्थ समाज भी पतित हो रहा था। मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के प्रति घृणा थी हिन्दुओं के मन में मुसलमानों के प्रति द्वेश था। ऐसी ही परि स्थित में पंजाब में, १६ वीं सदी में नानक नामक महात्मा का जन्म हुआ। नानक हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रतीक थे। वे मक्क तक की यात्रा कर आये थे। मुसलमान भी उनके चेले थे उनक कहना था कि सभी धर्मों के पैगम्बरों का आदर करो। सबक सम्मान करो। अपने धर्म को ठीक से समझो। छुआ छूत का भेदभाव मिटाकर, शुद्ध आचरण से रहना सीखो और अपना धर्म न भूलो। यही गुरू नानक सिख धर्म के पहले गुरू थे इनका जन्म सन् १४६६ में तथा मृत्यु सन् १५३६ में हुई। बाबा कबीरदास ने संयुक्त प्रान्त में जिस सद्भाव, ऐक्य, प्रेम, दीनता सादगी तथा सब धर्मों के प्रति आदर भाव का अलख जगाया था, गुरु नानक ने उसी भावना को पंजाब में दृढ़ कर दिया।

गुरु नानक की गद्दी पर रामदास, अर्जुन, हरगोबिन्द, तेग बहादुर आदि बड़े महान व्यक्ति बैठे पर इन्होंने नानक के मूल धर्म में परिवर्त्तन भी किया और वह परिवर्त्तन अपने शिष्य समाज को साहसी, सुयोग्य, वीर बनाने के लिये था ताकि लोग अपने विश्वास के लिये मर मिटना सीखें और ईश्वर की

अनन्त सत्ता को किसी बाहरी आडम्बर में फंस कर भूल न जावें। सिख सम्प्रदाय गुरु गोविन्दसिंह जी के समय में अपने विकास की चरम सीमा को पहुंच गया और इस दसवें गुरु ने उन्हें जो मूल सिद्धान्त समझाकर अपने पूर्वज गुरुओं की वाणियों तथा उपदेशों को एकत्रित कर, धर्म की जो रूप रेखा तय्यार कर दी, आज के सिखों का वही धर्म है, वही पथ प्रदर्शक है। गुरु परम्परा समय पाकर गड़बड़ हो सकती है और महापुरुषों का नेतृत्व न पाकर, धर्म में गड़बड़ी पैदा हो सकती है। इसी विचार से गुरु गोविन्दसिंह ने गुरुओं के उपदेशों को एकत्रित कर, एक सम्पूर्ण ग्रन्थ बना कर अपने पूर्वजों के कार्य को पूरा किया और स्वत: एक धर्म ग्रन्थ "दसवें पादशाह का ग्रन्थ" रचकर सब ग्रन्थ संग्रह कर डाला। तब उन्होंने यह सूचित कर दिया कि मेरे बाद अब और कोई गुरु न होगा। धर्म ग्रन्थ (जिसे ग्रन्थ साहब कहते हैं) गुरु समझा जावेगा। इसीलिये सिखों के धर्म ग्रन्थ को "गुरु ग्रन्थ साहब" भी कहते हैं। ग्रन्थ साहब में कबीर जी की साखियाँ भी हैं और भारत के अनेक धर्म गुरुओं के वचन हैं। वास्तव में सिख धर्म हिन्दू धर्म का ही एक अंग है पर इस धर्म के मानने वाले मूर्ति पूजा में, धार्मिक आडम्बरों में तथा छुआछूत में विश्वास नहीं करते। वे ईश्वर की सत्ता को अनन्त मानते हैं और गुरुओं को अवतारी पुरुष समझते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह के पिता गुरु तेजबहादुर (तेगबहादुर) बड़े शक्तिशाली पुरुष थे। वे मुगल सम्राट औरंगजेब के एक राजपूत सेनापति के साथ बिहार गये हुए थे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने औरंगजेब के अत्याचार से पीड़ित कुछ काश्मीरी ब्राह्मणों का पक्ष लेकर उनकी रक्षा करना चाहा।

क्रुद्ध बादशाह ने उन्हें गिरफ़्तार कर दिल्ली के क़िले में क़ैद कर दिया। एक दिन उन पर यह अभियोग लगाया गया कि वे बादशाही जनानखाने की ओर देखा करते हैं। गुरु तेगबहादुर बादशाह के सामने पेश किये गये। उस समय उन्होंने जो बात कही थी वह कुछ समय पाकर सत्य निकली। गुरु ने कहा:—"मैं जनानखाने की तरफ़ नहीं देख रहा था। वहाँ तो मेरी माँ बहनें रहती हैं। मैं तो पश्चिम से उठी हुई उस आँधी को देख रहा था जो हिन्दुस्तान की तरफ़ तेज़ी से बढ़ी चली आ रही है और कुछ ही वर्षों में यूरोपियन आकर तुम्हारे साम्राज्य को नष्ट कर डालेंगे।" यह तो इतिहास साक्षी है कि औरंगजेब के मरने के ५० वर्ष के भीतर ही भारत पर अँग्रेज़ों का राज्य हो गया।

सन् १६७५ में बादशाह की आज्ञा से तेजबहादुर (तेगबहादुर) मार डाले गये। सड़क पर इनकी लाश नुमाइश के लिये फेंक दी गई। इस प्रकार इनके पुत्र गोविन्दसिंह को १५ वर्ष की उम्र में ही गुरु के कठिन पद को सम्भालना पड़ा।

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म सन् १६६० में पटना में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा वहीं हुई थी। पर, "होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" बचपन से ही यह प्रकट हो गया था कि इस बच्चे में अद्भुत प्रतिभा तथा गुण हैं। पटना में इनकी यादगार की चीजें अब भी सुरक्षित हैं। पंजाब जाने के रास्ते में ये काशी में भी ठहरे थे, और वहाँ के गुरुद्वारे में भी इनका चिह्न वर्त्तमान है। जब वे पंजाब पहुँचे तो उन्होंने, उस बालकाल में ही देखा कि औरंगजेब की धर्मान्धता के विरुद्ध समूचा हिन्दू समाज उत्तेजित है और एक नेता की तलाश में है। गोविन्दसिंह जी मुसलमानों से घृणा नहीं, प्रेम करते थे। वे उनके धर्म का आदर करते थे पर उन कट्टर लोगों

को दण्ड भी देना चाहते थे जिन्होंने सब अन्य धर्मावलम्बियों को नास्तिक तथा काफिर घोषित कर रखा था। इस कार्य के लिये आवश्यक था कि सिख समाज पूरी तरह से बलशाली हो जावे और अपना तथा हिन्दू समाज का रक्षण कर सके। किन्तु, बुजुर्ग सिख लोग यह नहीं चाहते कि १८ वर्ष का बालक भी मुगल सम्राट का कोप भाजन बनकर गिरफ्तार हो जावे। इसलिये गोविन्दसिंह जी को आनन्दपुर नामक स्थान में रखा गया। यहाँ वे २० वर्ष तक रहे। किन्तु, यह समय इन्होंने अध्यन, साधना और उस महान कार्य की तय्यारी के लिये लगाया, जो कार्य कि समय पाकर इन्होंने किया। गुरु जी हिन्दुओं की दुर्गादेवी के बड़े भक्त थे उनकी उपासना में उन्होंने 'चंडी का चरित्र" और "चंडी का वार" लिखा, उसे पढ़कर रोम-रोम वीरता से झूम उठता है। अध्यन तथा तय्यारी में २० वर्ष बिताकर सन १६९५ में वे हिन्दू तथा सिखों का नेतृत्व करने के लिये मैदान में आ गये। सिखों को कड़े अनुशासन में रखने के लिये खालसा की स्थापना की सन १६९९)। "खालसा" का अर्थ है मुक्त या स्वतंत्र। खालसा में शामिल होने के लिये दीक्षा लेना जरूरी था। इस दीक्षा-संस्कार को पाहुल कहते हैं। उसे पंच ककार यानी केश, कड़ा, कंघ, कच्छ और कृपाण ग्रहण करना पड़ेगा। भारत में यह प्राचीन रीति चली आयी है कि किसी संकल्प को पूरा करने के लिये बाल रखाये जाते हैं। केशधारी सिख अपने धर्म और समाज के प्रति अपने संकल्प का स्मरण रखता है। साथ ही लम्बे केश एक सिपाही के लिये जरूरी है। वे उसके गले और सर की रक्षा करते हैं। हाथ में लोहे का कड़ा पहनने से दाहिने हाथ में कलाई की पूरी हिफ़ाजत रहती है। लोहे के कड़े का एक अर्थ यह भी है उसका धारण करने वाला यह ध्यान में रखे कि

उसने भोग विलास की सामग्री त्याग दी है। बड़े बाल के लिये कंक यानी कंघा रखना जरूरी है। कच्छ वर्तमान हाफ पैन्ट का एक रूप है और उसे धारण करने से स्फूर्ति रहती है। कृपाण तो तलवार है ही। इस प्रकार दीक्षा के एक विधान से इस महापुरुष ने समूचे सम्प्रदाय को कट्टर वीर सिपाही बना दिया।

गुरु गोविन्दजी की आज्ञा थी कि हरेक सच्चे सिख को अपना सर्वस्व गुरु के चरणों पर निछावर कर देना चाहिये। गुरु की सेवा में उसे कीर्तिनाश यानी यश की हानि, कुल-नाश यानी परिवार की हानि, धर्मनाश यानी कट्टर धर्म की हानि तथा कर्मनाश यानी अपने कर्मों की हानि तक के लिये तय्यार रहना चाहिये। इतनी त्याग-तपस्या वाला व्यक्ति ही सच्चा खालसा हो सकता है।

सिखों की यह बढ़ती शक्ति पहले कुछ पंजाबी हिन्दू राजाओं तथा सरदारों को ही खली। उन्होंने भीमचन्द की आधीनता में एक सेना भेजकर इनका दमन कराना चाहा पर भगनी की लड़ाई में वे बुरी तरह हार गये। इससे गुरु का मान बढ़ा और उसकी हवा औरंगजेब को लगी। उन्होंने लाहौर तथा सरहिंद के सूबेदारों को हुकम दिया कि गोविन्द को पकड़ लाओ। शाही फौज ने १७०१ में आनन्दपुर के चारों ओर घेरा डाल दिया। एक एक कर सिख कटने लगे। उनके पास खाने पीने का भी ठिकाना न रहा। कुछ कमजोर दिल के साथी साथ छोड़कर भाग गये। अन्त में केवल ४० साथी बच रहे। उनको लेकर यह वीर पुरुष आनन्दपुर से चुपचाप निकल भागा। बस, अब तो औरंगजेब से लड़ाई ठन गयी। दोनों पक्षों में से किसी को चैन न थी। गुरु के दोनों लड़के पकड़ लिये गये और सरहिन्द में, सूबेदार के

हुक्म से दीवाल में चुनवा दिये गये। पर इस अवतारी पुरुष के माथे पर शिकन भी न आयी। वे लड़के भी धर्म की आन पर मर मिटे। गुरु को अपराजित छोड़कर सन् १७०७ में औरंगजेब भी चल बसे। उनके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने इनसे सुलह करने का पैगाम भेजा। गुरुजी दिल्ली गये और बादशाह के अनुरोध पर उनकी एक सेना के सेनापति बनकर दक्षिण भारत चले गये। उन्होंने इस अवसर को सिख तथा हिन्दुओं के लाभ के लिये अमूल्य अवसर समझकर ही यह सुलह की थी और सेना सम्भाला था। दक्षिण में हां, गोदावरी के तट पर, जब वे शयन कर रहे थे, एक पठान ने छुरी भोंक कर इनकी हत्या कर डाली। इस प्रकार ४७ वर्ष की अवस्था में उनकी सांसारिक लीला समाप्त हुई।

इनके बाद भी सिख धर्म की पवित्रता अक्षुण्ण रही और सिखों ने अपने समाज का सर ऊँचा रखा। 'गुरु ग्रन्थसाहब'' इनका गुरु है और पंथ अर्थात् पंचायत द्वारा समाज के कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय होता है। गुरु गोविंदसिंह ने अपनी छोटीसी जिन्दगी में वीरता का सच्चा पाठ पढ़ाया है। वे वीर थे और भक्त थे। उनका पढ़ाया पाठ सिख कदापि नहीं भूल सकते।

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म जिस युग में हुआ था, उसके विषय में हम बाबा कबीरदास के अध्याय में कुछ लिख आये हैं। १४, १५, १६ शताब्दि में भारतीय समाज की वास्तव में बड़ी दुर्दशा थी। लोगों को खाने-पीने का कष्ट न था। पर, मानसिक कष्ट के कारण जनता बड़ी पीड़ित थी। मन के कष्ट को हरने वाली सबसे बड़ी चीज भगवत्प्रार्थना है। कबीर ऐसे साधु जनता को सच्चा ज्ञान बतला गये थे पर साधारण श्रेणी की जनता के लिये निर्गुण या वैराग्य के गाने या भजन पर्य्याप्त न थे। उसे तो उसकी बोलचाल की भाषा में ऐसा ग्रन्थ चाहिये था जो सबका मनोरंजन करे, कर्त्तव्य का पथ बतलाये, विपत्ति में ढाढ़स दे तथा रुचिकर चीज हो। यह

कार्य तुलसीदासजी ने किया। यद्यपि संसार में ईसाइयों की सबसे अधिक संख्या होने के कारण ईसाई धर्म-ग्रन्थ "बाइबिल" का सबसे अधिक प्रचार है तथा दर्शनशास्त्र का सबसे ऊँचा ग्रन्थ होने के कारण गीता का सबसे अधिक मान है तथापि घर घर में प्रचार के लिहाज से तुलसीदास कृत "रामचरित मानस" जिसे "रामायण" भी कहते हैं, अत्यधिक प्रचार तथा लोकप्रियता को प्राप्त कर सका है। ईसा से ५००० वर्ष पूर्व कम से कम महर्षि वाल्मीकी संसार का सबसे प्रथम महान् काव्य "रामायण" लिख गये थे पर संस्कृत में होने के कारण आम जनता उससे लाभ नहीं उठा सकती थी। पर, तुलसीकृत रामायण आज भी करोड़ों भारतीयों की अन्तरात्मा को शान्ति प्रदान करता है। काव्य की दृष्टि से तथा इसमें भरे हुए ज्ञान, नीति, राजनीति तथा धर्म के उपदेश के भंडार की दृष्टि से, यह ग्रन्थ हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। सूरदास जी की रचनायें भी बहुत उच्चकोटि की हैं पर, तुलसीकृत रामायण, विनय-पत्रिका तथा अनेक काव्य-ग्रन्थ अपना निराला स्थान रखते हैं। रामायण में दोहा चौपाई हैं। विनय पत्रिका में भजन करने के योग्य बहुत ही साहित्यिक तथा उच्चकोटि की कवितायें हैं। प्रायः सभी कवितायें रामचन्द्रजी की प्रार्थना के रूप में हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० प्रेमचन्द जी तो यह कहा करते थे कि "तुलसीदास ने राम को अमर कर दिया।" उन्होंने राम के लिये वही कार्य किया जो १८ पुराणों के रचयिता व्यास ने कृष्ण के लिये किया था। विनय-पत्रिका का एक-एक भजन बड़ा मार्मिक है। एक बानगी देखिये:—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितहि, भये मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लों।
अंजन कहाँ आँख जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लों।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासो होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो।

इन रस भरी पंक्तियों को पढ़कर कौन न झूम उठेगा। वास्तव में तुलसी के राम ने पीड़ित पराजित हिन्दू-जाति में ज्ञान डाल दिया। रामायण की एक एक चौपाई भारतीयों के हृदय में उथल-पुथल मचा देती है। गोस्वामी जी कहते हैं:—

"पराधीन सपनेहुँ, सुख नाहीं।"

कितनी महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक बात है।

ग्रह भेषज जल पवन पट, पाई कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥

अस्तु, अब हम गोस्वामी जी का परिचय देंगे। इलाहाबाद के निकट, यमुना नदी के दक्षिण में राजापुर नाम का एक ग्राम है। यहाँ पर पराशर गोत्र के, आत्माराम दुबे नामक एक भक्त और विद्वान् सरयूपारीण ब्राह्मण रहा करते थे। दुबेजी ही तुलसी के पिता थे। तुलसी की माता का नाम था हुलसी और १२ महीने तक गर्भ में रहने के बाद, श्रवण शुक्ल, सप्तमी, सम्बत् १५८६ यानी सन् १५६२ में इस महापुरुष का जन्म हुआ। कथा है कि जन्म लेते ही बालक के मुंह से रोने के बजाय राम शब्द निकला। उसके मुख में बत्तीसों दाँत भी मौजूद थे। औरतों में एक शोर सा मच गया। कोई उसके विषय में कुछ कहता, कोई कुछ। तीन दिन बाद. रात में, हुलसी का देहान्त हो गया। उन्होंने मरने के समय अपनी दासी चुनियाँ से कहा कि वह उस बच्चे को लेकर अपनी ससुराल

हरिपुर चली जाऊँ नहीं तो घर वाले न जाने बच्चे का क्या करें। तुलसी ने अपने सब गहने भी दासी को दे दिये। चुनियाँ ने अपने ससुराल में ले जाकर बच्चे को रखा। पर तुलसी के साढ़े पाँच वर्ष का होते ही चुनियाँ भी चल बसी। अब चुनियाँ की सास ने दूबेजी के पास कहला भेजा कि अपना बच्चा ले जाओ पर उन्होंने कहा कि जिस बच्चे के पैदा होते ही उसकी माता मर गयी, उस अभागे बच्चे को मैं न रखूँगा।

तुलसी दर-दर ठोकरें खाते घूमते रहे। कोई दो मुट्ठी अन्न तक देने वाला न था। भाग्यवशात् रामशैल निवासी परम वैष्णव श्री नरहरि साधु की दृष्टि इन पर पड़ी और इन्हें होनहार बालक समझ कर अपने पास ले आये। इनका नाम रामबोला रखा और अयोध्या में संवत् १५६१, माघ शुक्ल पंचमी को उनका यज्ञोपवीत् संस्कार किया गया। वैष्णवों के पाँचों संस्कार करने के बाद रामबोला को राम-मंत्र की दीक्षा दी गई। रामबोला बड़े गुरु-भक्त थे। गुरु की बड़ी सेवा किया करते थे। एक दिन गुरु के पैर दबाते-दबाते उन्होंने उनको अपना बचपन की कथा सुना डाली। तब से गुरु उनपर बड़ी दया करने लगे। गुरु के साथ ही वे सूकरक्षेत्र यानी सोरों गये। वहीं पर नरहरि जी ने रामबोला को रामचरित्र सुनाया। वहाँ से रामबोला काशी आये और परम विद्वान शेषसनातन जी के पास १५ वर्ष रहकर वेद-वेदांग का अध्ययन किया। इसके बाद वे राजापुर आये और अपने मृत पिता का पिंडादान तथा श्राद्ध किया। इसके बाद वहीं रहकर वे ग्राम वालों को राम की कथा सुनाते रहे। अब यह पुनः अपने पुराने नाम तुलसी-तुलसीदास पर आगये। यहीं पर भारद्वाज गोत्रीय एक ब्राह्मण ने इनसे अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव कर दिया। इनके अस्वीकार करने पर वह धरना देकर बैठ गया और अनशन करने लगा। फलतः

तुलसीदासजी राजी हो गये और संवत् १५८३, ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी, बृहस्पतिवार को इनका विवाह बड़ी सुन्दरी सुशीला कन्या से हो गया। उसके रूप तथा गुण पर तुलसीदासजी बुरी तरह रीझ गये थे। यहां तक कि जब वह अपने मायके जाना चाहती तो जाने न देते। एक दिन जब वे बाहर गये थे, वह अपने भाई के साथ मायके चली गयी। रात को जब तुलसीदासजी घर लौटे तो स्त्री को न पाकर इतने पागल से हो गये कि रात ही रात किसी तरह नदी पार कर उसके पास पहुँचे। उस समय उस देवी ने जो कुछ कहा, उससे इस महापुरुष के भीतर सोता हुआ ज्ञान-सिंह जाग उठा। स्त्री ने कहा था कि जितना प्रेम तुम मेरे साथ इस हाड़ मांस के नाशवान् शरीर से करते हो, यदि उतना स्नेह भगवान से करो तो तुम्हारा यह लोक और परलोक, दोनों हो बन जावें। बस, यह महा-उपदेश सुनते ही उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये। वे घर से चल पड़े। उनका साला उनको मनाने के लिये पीछे दौड़ा। पर वे, वापस न आये। उनकी स्त्री ने दूसरे दिन यानी संवत् १५८६, आषाढ़ बदी दशमी, बुधवार को परलोक की यात्रा की। मानो वह देवी केवल इस महापुरुष को सचेत करने आयी थी और अपना काम समाप्त कर चली गई।

तुलसीदास ने प्रयाग जाकर साधु वेश धारण किया और इसके बाद वे उत्तर तथा दक्षिण भारत के पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा करते रहे। इस प्रकार १४ वर्ष १० महीने १७ दिन की यात्रा के बाद वे काशी पहुंचे। यहां से वे चित्रकूट गये थे और कहते हैं कि वहीं पर संवत् १६०७ की मौनी अमावस्या, बुधवार के दिन इनको रामचन्द्रजी का दर्शन हुआ। इनकी भक्ति तथा पांडित्य का समाचार दूर-दूर तक फैला और संवत् १६१६ में महात्मा सूरदासजी अपना सूरसागर लेकर इनके

पास आये थे और एक सप्ताह के सत्संग के बाद वापस गये थे। प्रसिद्ध भक्तिनी मीराबाई ने इनके पास अपना दूत भेजा था।

इस प्रकार तुलसीदासजी का नाम चारो ओर फैल रहा था। और जनता को रामकथा सुनाकर वे मुग्ध कर रहे थे। इनके भजनों का प्रथम संग्रह संवत् १६२८ में रामगीतावली तथा कृष्णगीतावली के नाम से प्रकट हुआ था। अयोध्या में, संवत् १६३१ में 'चैत्र शुक्ल रामनवमी के दिन उन्होंने अपने महाकाव्य रामचरित-मानस अथवा रामायण का प्रारम्भ किया और दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिन में यह महान् ग्रन्थ समाप्त हुआ। "विनय पत्रिका" काशी में लिखी गयी और जिस स्थान पर यह लिखी गयी थी, वह अभी तक सुरक्षित है।

इसके बाद का उनका ८, ६ वर्ष का जीवन जनता को हरिकथा सुनाने, दीन दुखियों तथा साधुओं की सेवा करने और व्रत तपस्या में बीता। काशी के शैवों ने इनके विरुद्ध कुछ उपद्रव भी मचाया था पर अन्त में सबको यह मानना पड़ा कि राम और शिव एक हैं। चाहे किसी नाम से पुकारो, ईश्वर एक ही है।

समाज की सेवा करते, अनेक ग्रन्थ रचते तथा जनता को ईश्वर भजन का उपदेश देते हुए, श्रावण शुक्ल सप्तमी (जिस तिथि को इनका जन्म हुआ था) संवत् १६८० में इन्होंने शरीर त्याग दिया। अंग्रेजी हिसाब से सन् १६२३ में इनकी मृत्यु हुई। उस समय इनकी अवस्था ६१ वर्ष की थी। इनके जीवन चरित्र तथा जन्मस्थान के विषय में भी बहुत से तर्क हैं, अलग-अलग सिद्धान्त हैं। पर हमने सर्वमान्य सिद्धान्त पाठकों के सामने पेश किया है। इनका जन्मस्थान राजापुर में अभी भी ढूह के रूप में पड़ा हुआ है और नदी हर साल इसके कगारे को काटती

चली जा रही है। यही हाल रहा तो कुछ दिनों में इसका नामो-निशान मिट जायेगा। हिन्दुओं के लिए यह लज्जा की बात है कि वे इतने बड़े महापुरुष के जन्म स्थान को सुरक्षित रखने का भी प्रबन्ध नहीं कर सकते।



स्वामी विवेकानन्द

२० वीं शताब्दि में भारत में बड़े उच्च कोटि के धार्मिक नेता होगये हैं जिन्होंने भारतीय सभ्यता तथा शिष्टता को पश्चिमी सभ्यता की नक़ल करने वाले, अपनी सभ्यता को बुरा भला कहने वाले तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भिक कु-प्रभाव के कारण कोरी ईसाइयत में फंस जाने वालों के चंगुल से बचाया था। इन सुधारकों के मन में किसी भी धर्म या नेता के प्रति कोई भी विद्वेष नहीं था। वे केवल भारतीयों को यह बतलाना चाहते थे कि अपनी असलियत को मत खोओ, अपने महान् धर्म के प्रति आदर भाव रखो। इन महा-पुरुषों में श्री केशव-चन्द्रसेन (जिन्होंने ब्रह्म-समाज की नींव जमाई) महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश के रचयिता तथा हिन्दू जाति में प्राण फूँकने वाले आर्यसमाज

के स्थापक) स्वामी रामतीर्थ (जिन्होंने हरेक को अपने को ईश्वर तथा संसार का स्वामी समझने का मंत्र सिखलाया) रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द का नाम उल्लेखनीय है। केशवचन्द्रसेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति महापुरुष मूर्त्ति पूजा के विरोधी थे तथा शुद्ध दर्शन और आत्मज्ञान के प्रचारक थे। दयानन्द सरस्वती सनातन धर्म की प्रचलित परम्परा को वैदिक परम्परा से भिन्न मानकर उसके विरोधी थे। पर राम-कृष्णजी ने अपने जीवन से यह प्रमाणित कर दिया कि मूर्त्तिपूजा द्वारा आत्मज्ञान तथा सर्वज्ञान प्राप्त हो सकता है। वे एक गृहस्थ व्यक्ति थे। अपनी पत्नी के साथ रहते थे। कलकत्ता की धनी जमींदारिन रानी रासमणि के मंदिर के पुजारी थे—काली-घाट पर बने उनके काली मंदिर के पुजारी थे। पर, यह अब सब जानते हैं कि अपनी पत्नी के साथ रहते हुए भी वे उनके साथ भोग-विलास में कभी लिप्त न हुए। सृष्टि का आदि-सूत्र यदि परमात्मा की आदि शक्ति है तो जगद् की उत्पादिका, इसी शक्ति, इसी महामाया जगदम्बिका को काली के रूप में पूजकर, श्रीरामकृष्ण मातृ-शक्ति द्वारा संसार की माया, ममता के ·र जाकर परब्रह्म के परमानन्द को प्राप्त हो गये थे। मां की मूर्ति के सामने बैठकर जब वे उसकी अतुल कृपा तथा दया का ध्यान करते, इनकी समाधि लग जाती। वे संसार को पार कर, संदेह परमानन्द में लीन हो जाते पहले तो उनकी समाधि को लोगों ने ढोंग समझा। पीछे, यह प्रकट हो गया कि यही असली समाधि है। जिसको ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त हो गया है, वही ऐसी समाधि प्राप्त कर सकता है। काली की जिस मूर्ति की वे उपासना करते थे, उसकी उपासना से वास्तव में संसार का बंधन दूर होता है।

रामकृष्ण का जीवन बड़ा ही चमत्कार पूर्ण है। बचपन में ही उन्हें घर गृहस्थी सम्भालने तथा परिवार के भरण-पोषण का प्रबन्ध करने के लिये प्रयत्नशील होना पड़ा। विचार इतने स्वतंत्र थे कि कट्टर हिन्दू उनसे द्वेष रखते थे। इतने सीधे तथा सरल स्वभाव के व्यक्ति थे कि उनको दुनियाँ का झगड़ा फसाद आता ही नहीं था। पढ़े लिखे बिलकुल नहीं थे पर उनकी अशिक्षा संसार के विद्वानों की शिक्षा से भी अधिक अच्छी थी। आत्मज्ञान इतना प्रबल था कि संसार की समूची विद्या उनकी मुट्ठी में थी।

रामकृष्णजी का कथन था कि जगन्माता दया की खान है। उसी की कृपा से मनुष्य संसार के चक्कर में जीता-जागता खाता-पीता चल रहा है। जगदम्बा ही हम सबको दया का मंत्र सिखाती है तथा जिस प्रकार माता बच्चे की सेवा करती है उसी प्रकार सेवा का मंत्र उसकी हरेक संतान का सीखना चाहिये। किन्तु, प्राणिमात्र के ऊपर दया कर तथा उसकी सेवा कर, हम किसी के ऊपर उपकार नहीं कर रहे हैं, केवल अपना कल्याण कर रहे हैं, क्योंकि हम-सब प्रत्येक प्राणी एक ही माँ की संतान हैं। सबकी आत्मा एक है।

रामकृष्णजी प्राणिमात्र की सेवा के लिये तथा माता के प्रति स्नेह और मानव जाति को अमरत्व की शिक्षा देने के लिये एक ऐसे महापुरुष की तलाश में थे जो उनके बाद भी उनका अलख जगाता रहे। उन्हें ऐसे शिष्य तथा अनुयायी की बड़ी चिन्ता थी। वैसे तो उनके पास बड़े अच्छे और पहुँचे हुए शिष्यगण थे पर उनमें से किसी में ऐसी प्रतिभा न थी जो विश्व में हिन्दू धर्म का डंका पीट सके।

ईश्वर की कृपा से यह शिष्य उन्हें मिल गया। इनका नाम था नरेन्द्र या नरेन। ये जाति के कायस्थ थे, मध्यम श्रेणी के

एक परिवार में ६ जनवरी, १८६२ को इनका जन्म हुआ था। इनके पिता की ईसाई धर्म तथा पश्चिमीय सभ्यता के प्रति अनुरक्त थी। बाइबिल के विषय में उनके पिता कहते थे कि "यदि धर्म नाम की कोई वस्तु है तो इन पुस्तक में है।" पिता की स्वतन्त्र विचार-प्रणाली का नरेन्द्र के मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ा। वे अपनी भावुकता की धारा में बह चले। उनके जीवन भर भावुकता तथा तर्क का संघर्ष चलता रहा पर जब वे कलकत्ता के क्रिश्चियन कालेज से बी० ए० की परीक्षा पास करके निकले, उस समय इनके चित्त में संकल्प-विकल्प की भयंकर आँधी बह रही थी। मन कहता था कि ईश्वर नहीं है, तर्क कहता था कि शायद हो।

नरेन्द्र अच्छे खिलाड़ी, तैराक, घुड़सवार, गायनकला के प्रेमी तथा खूबसूरत नौजवान थे। अच्छा कपड़ा पहनने का भी बड़ा शौक था। बंगला गीतों को बड़े मधुर राग से गाया करते थे। इसलिये, इनके जवान दिल में हर तरह की उमंगें उछल रही थीं। एक ओर जवानी थी, आगे बढ़ने की, धन कमाने की और ऐश आराम से जिन्दगी बिताने की भावना थी, दूसरी ओर ऐसा सपना दीखता था कि दुनियाँ का सब कुछ त्याग कर, कौपीन धारण कर वृक्ष की छाया के नीचे पड़े रहें। उनको ऐसा लगने लगा कि "वह साधारण कीड़ा सबसे महान है जो चुपचाप, प्रतिक्षण, प्रतिपल, परिश्रम के साथ अपना काम कर रहा है, अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है।

अपनी इस अस्त-व्यस्त मानसिक दशा में, गौतम बुद्ध की तरह सत्य की खोज में वे इधर उधर भटकते रहे। ब्राह्म समाज में भी गये, वहाँ भी शान्ति न मिली। एक दिन वे रामकृष्णजी के पास पहुँचे। सुना था कि यह अपढ़ पुजारी काली की पूजा द्वारा ही पहुँचा हुआ फकीर हो गया है। जब रामकृष्ण ने

इनको देखा तो इनको अलग बरामदे में ले गये और उनका गला पकड़ कर रोने लगे। नरेन्द्र घबड़ा गये। रामकृष्ण कह रहे थे—"संसार की सेवा के लिये मैं जिस महापुरुष की तलाश में था, वह तुम ही हो। हे प्रिय, तुम अब मुझे मत छोड़ो।"

नरेन्द्र की कुछ समझ में न आया। उन्हें इस बूढ़े से चिढ़ हो गयी और यह संकल्प कर वहां से बिदा हुए कि यहाँ फिर कभी न आवेंगे। इन दिनों इनकी आर्थिक स्थिति बड़ी खराब हो गयी थी। पिता के देहान्त के बाद परिवार निराश्रय हो रहा था। बूढ़ी माता का भरण पोषण करना था। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। कुछ समय बाद इनके पैर अनायास रामकृष्ण परमहंस की कुटिया की ओर उठ गये। रामकृष्ण की विजय हुई। नरेन्द्र के चित्त को शान्ति पहुँची। उनका मस्तक गुरु के चरणों पर झुक गया। वे नरेन्द्र से बदल कर स्वामी विवेकानन्द हो गये। रामकृष्ण के विषय में वे कहते हैं:—"यदि वास्तविक सत्य कुछ है और संसार में यदि दार्शनिकता के बारे में मैंने कुछ भी कहा, तो उसका श्रेय उन्हीं को है—धर्म अनुभूति की वस्तु है, तर्क की नहीं।"

१५ अगस्त, १८८६ में रामकृष्ण जी परमधाम को सिधारे विवेकानन्द ने उनके संकल्प को पूरा करने का व्रत लिया। इसके लिये वे छः वर्ष तक सन्यासी के रूप में चारों ओर घूमकर अपने ज्ञान की वृद्धि तथा आत्मिक शक्ति का सञ्चय करते रहे और १८९२ में अपने ही संकल्प के अनुसार वे "समाज के ऊपर एक बम की तरह टूट पड़े।"

हिन्दू धर्म के मूलमंत्र से पाश्चमीय सभ्यता वालों को परिचित कराने के लिये वे ३१ मई, १८९३ में बम्बई से रवाना हुए और जापान के मार्ग द्वारा, संयुक्त राज्य अमेरिका में होने

वाली "धर्मों की महासभा" यानी 'पार्लमेंट आव रेलिजन्स" में शरीक होने के लिये वहाँ पहुँच गये। किन्तु इनके पास वहाँ न तो खर्च करने के लिये पैसा बच गया और किसी से परिचय न होने के कारण, उस महासभा में हिन्दू धर्म ऐसी साधारण चीज के नाम पर, कोई घुसने देने के लिये तय्यार न था। किन्तु आत्मशक्ति तथा दृढ़ संकल्प से अपराजित सन्यासी विजयी हुआ और विवेकानन्द के भाषण से लोग इतने मंत्र-मुग्ध होने लगे कि उनका व्याख्यान सुनने के लिये घंटों तक प्रतीक्षा किया करते थे। अमेरिकनों के मन पर हिन्दू धर्म की महानता की छाप बैठ गयी। वे भारतीय धर्म तथा दर्शन की महानता से अवगत हो गये। अमेरिका के प्रवास में समय निकाल कर विवेकानन्दजी इंगलैंड तथा स्विट्जरलैंड की भी यात्रा कर आये। अगस्त, १८९५ में इन्होंने अमेरिका छोड़ा था। जनवरी, १८९७ में जब ये सीलोन की राजधानी कोलम्बो पहुँचे, इनका नाम संसार के हर कोने में फैल चुका था। कोलम्बो से मद्रास तक और मद्रास से कलकत्ते तक, भारतीय बड़े उत्साह से इनका स्वागत कर रहे थे। उनको अपने राष्ट्र का एक दैवी दूत मिल गया था। विवेकानन्द के जीवन का मुख्य कार्य पूरा हो चुका था। संसार को हिन्दू धर्म तथा उसकी महानता का ही पता नहीं चला, वह आत्मा तथा आवागमन का सिद्धान्त सुन कर उस पर विचार करने लगा था।

कलकत्ता पहुँच कर उन्होंने रामकृष्ण के सेवा-मंत्र को कार्यरूप में परिणत करने के लिये रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। पहले तो सन्यासियों ने इसे दुनियाँ के बंधन में फंसाने वाली चीज समझकर इसमें पड़ना अस्वीकार किया। पर, अन्त में वे सेवा की महानता का रहस्य समझकर इसमें भाग लेने के लिये तत्पर हो गये। आज रामकृष्ण मिशन की शाखायें

भारत के कोने-कोने में फैली हुई हैं और रोगी, भूखे, अपाहिज अपढ़, अछूतों की सेवा कर रही हैं। पहला आश्रम कलकत्ता के निकट बेलूर में तथा दूसरा अल्मोड़ा के जिले में मायावती नामक स्थान पर खुला, रामकृष्णजी के स्थान कालीघाट तथा बेलूर मठ की यात्रा सबको करनी चाहिये।

विवेकानन्द जी अत्यधिक परिश्रम तथा कार्य करते थे। उनका उद्देश्य था कि क्षणभंगुर जीवन में लेशमात्र भी आलस्य नहीं करना चाहिये। पश्चिमीय सभ्यता को अपने धर्म की महत्ता पूरी तरह समझने के लिये, जून १८९९ इन्होंने अमेरिका की दूसरी यात्रा की पर इस परिश्रम को वे ज्यादा बरदाश्त न कर सके और दिसम्बर १९०० में ही उनको भारत वापस आना पड़ा। उन्हें मधुमेह का रोग हो गया था और इसी कारण ४ जुलाई, १९०२ को, ४० वर्ष की भरी जवानी में संसार में उथल पुथल मचाकर तथा भारतीय हिन्दू समाज में नयी जान फूँक कर, वे संसार से चल बसे। किन्तु, उनकी आत्मा, उनके कार्य अजर-अमर हैं। यह अवश्य है कि यदि वे दस वर्ष और जीवित रहते तो भारत के समाज का इतिहास ही कुछ और होता। वे केवल धर्म प्रचारक न थे। सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह उन्होंने सिखाया था तथा स्वाधीनता की भावना को भी उन्होंने जगाया था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

आर्यसमाज भारत की बहुत ही महत्वपूर्ण तथा ठोस कार्य करने वाली संस्था है, देश व्यापी इसकी शाखाओं ने राजनैतिक जागृति तथा समाज सुधार का अनोखा काम किया है। शिक्षा के क्षेत्र में, इसकी छत्रछाया तथा इसके नियन्त्रण में परिचालित दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल तथा कालेजों ने सराहनीय सेवा की है। हिन्दी का प्रचार तथा हिन्दुओं में हिन्दुत्व का जोश भरने का इसका कार्य हम कभी नहीं भूल सकते। संस्था का जन्म एक ऐसे समय में हुआ था जब हिन्दू समाज में मूर्तिपूजा ने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया था जिसमें उसका वास्तविक तत्व लोग भूल गये थे। कर्मकांड ने कुकर्मों का रूप ले लिया था और बाल-विवाह, विधवाओं के साथ अत्याचार, छूआछूत आदि को सनातन धर्म का रूप दे दिया गया था। हिन्दू धर्म,

"तुम-छुए, मैं छुआ" हो रहा था और लोग धड़ाधड़ अपना धर्म छोड़ रहे थे। वैदिक धर्म अज्ञानवश भूल सा गया था। उस समय आवश्यकता ऐसे महापुरुष की थी जो भारत को, हिन्दू समाज को, हिन्दू धर्म को जगा दे और उसकी सम्मिलित तन्द्रा को दूर कर दे। यही कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। हम उनके धार्मिक सिद्धान्तों से मतभेद रख सकते हैं पर उनके तथा उनके महत्वपूर्ण कार्यों और उनके महान ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" के प्रति भारत सदैव कृतज्ञ और आभारी रहेगा।

१२३ वर्ष पूर्व, सम्वत् १८८१ में, गुजरात के मोरवी राज्य के टंकारा इलाके में "जमेदार" (एक प्रकार से तहसीलदार) करसनजी लालजी तिवाड़ी को एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया मूलशंकर करसनजी। प्यार में इस बालक को मूलजी कहते थे। यही बालक हमारे दयानन्द सरस्वती हैं। करसनजी लालजी सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे पर शंकर भक्त होने के कारण यजुर्वेद को बहुत मानते थे। बालक मूलजी की पांच वर्ष से ही शिक्षा प्रारम्भ हो गयी और थोड़े ही दिनों में इन्होंने वेद के अनेक मन्त्र तथा श्लोक इत्यादि कंठस्थ कर लिये। ८ वें वर्ष उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता ने अपने पुत्र को शिवभक्ति में दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया।

इनकी १४ वर्ष की उम्र में, महाशिवरात्रि के दिन माता के मना करने पर भी, पिता ने इन्हें उपवास कराया और रात्रि को शिव मन्दिर में रात्रिजागरण तथा पूजन के लिये लिवा ले गये। यहाँ पर बालक मूलजी तो व्रत टूटने के भय से नींद रोके बैठे रहे पर उनके पिता तथा अनेक पंडित सो गये। बालक मूलजी के मन में शंकर की मूर्ति पर चूहों को दौड़ लगाते तथा मन्दिर के पुजारियों को सोते देखकर यह शंका उत्पन्न हुई कि जगत्

के स्वामी पर चूहे कैसे चढ़ सकते हैं ? और पंडितों में इतना भी आत्मबल नहीं है कि एक रात की नींद रोक सकें। उनके मन में इतने प्रश्न उठने लगे कि वे अपने को रोक न सके और उन्होंने अपने पिताजी को जगाकर उनसे अनेक प्रश्न पूछना शुरू कर दिया। ऊबकर पिता ने उन्हें घर भेज दिया और वहाँ जाकर मूलजी ने अपना व्रत भंग कर दिया।

इस प्रकार बचपन से ही मूलजी के मन में धर्म की जिज्ञासा तथा उसके प्रति तर्क, वितर्क प्रारम्भ हो गया। अपनी बहन तथा चाचा की मृत्यु से उनके मन में मृत्यु से बचने का उपाय ढूँढने की धुन सवार हुई। पुत्र की चित्त-वृत्ति माता से छिपी न रही। वे यह समझ गये कि इसके मन में भयंकर उथल पुथल मच रही है। इस प्रकार की वृत्ति के विरोध के लिये गृहस्थाश्रम की बेड़ी डाल देना ही सबसे सरल उपाय समझा जाता है। इसलिये वे उनके विवाह की सोचने लगे। इस समय मूलजी २० वर्ष के युवक हो चुके थे। पिता माता इस बात पर तुल गये कि लड़के का ब्याह कर दो। लड़का इस बन्धन में पड़ना नहीं चाहता था। एक रात मूलजी चुपचाप घर से भाग निकले।

सत्य की खोज में, जीवन का, मनुष्य का, धर्म का असली तत्व ढूँढ निकालने के लिये मूलजी घर से निकल पड़े थे। एक ग्राम में पहुंच कर सन्यासियों के साथ मिलकर उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया। पर इनके पिता ने सिपाहियों सहित वहाँ जाकर इन्हें पकड़ लिया और घर लाये। पर, जिज्ञासु मूलजी का मन घर पर न लगा। तीसरे दिन वे फिर भाग निकले और चारों ओर पंडित, साधु, सन्यासी से मिलते और अपनी धार्मिक पिपासा शान्त करने की चेष्टा करते कराते वे सन्यासी पूर्णानन्द सरस्वती के पास पहुँचे। इन्हीं से दीक्षा लेकर

वे पूर्ण सन्यासी हो गये और इनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा गया।

योगाभ्यास की गुह्यतम गुत्थियों की जानकारी के लिये स्वामी दयानन्द ने भारत में लम्बा भ्रमण किया। हिमालय के के घोरतम स्थानों में घूमते हुए वे बड़े बड़े साधु महात्माओं से मिले पर जिस चीज की तलाश थी वह इतनी दुर्लभ है कि उसके लिये कठिन तपस्या की आवश्यकता होती है। स्वामी जी का इन दिनों का जीवन घोर तपश्चर्या व साधना का था। ब्रह्मचर्य तथा लगन के तेज से पर्वत तथा कन्दराओं को आलोकित करते हुए वे उत्तर भारत छोड़कर, सच्चे योगी की तलाश में नर्मदा तट के जंगलों में पहुंचे और वहाँ तीन वर्ष तक भटकते रहे। अन्त में, भारत का अधिकांश कोना छान डालने के बाद भगवान् ने इनकी पुकार सुनली और संवत् १९१७ में मथुरा में योगिराज विरजानन्द जी से भेंट हुई। ढाई वर्ष तक इनके चरणों में बैठकर दयानन्द जी ने सर्वांङ्ग पांडित्य उपार्जन इनके कर लिया। दीक्षा के उपरान्त गुरु जी ने गुरु दक्षिणा के रूप में केवल इनसे यही मांगा कि मत मतान्तरों तथा कुरीतियों से पीड़ित हिन्दू समाज का वे उद्धार करें और पुन: वैदिक सभ्यता का झंडा ऊँचा करायें। स्वामीदयानन्द ने गुरू की आज्ञा पालन का वचन दिया और उनसे आशीर्वाद लेकर कार्यक्षेत्र में उतर पड़े।

थोड़े ही समय में ४० वर्ष की उम्र वाले इस प्रबल ब्रह्मचारी साधु ने भारत में ख्याति प्राप्त कर ली। इनके व्याख्यानों में इतनी सच्चाई, हृदय की पुकार तथा ज्ञान की गहराई होती कि जो सुनता वही मुग्ध हो जाता और बड़े बड़े विद्वान् पंडित इनसे तर्क करके जीत नहीं सकते थे। चारों ओर ज्ञान, प्रचार करते करते स्वामी जी कुंभ मेला के अवसर पर, संवत १९२३

में हरद्वार पहुंचे। वहाँ उन्होंने भीमगोड़ा स्थान पर "पाखण्ड खंडनी सभा" का आयोजन किया। इनका व्याख्यान सुनने के लिये हजारों की भीड़ लगती थी। वैदिक धर्म के प्रतिपादन के लिये यहाँ सुनहला अवसर मिला।

स्वामी जी प्रचार कार्य करते हुए काशी, प्रयाग, कलकत्ता आदि होते हुए बम्बई भी गये और बम्बई में इनके भक्तों में महादेव गोविंद रानाडे नामक महापुरुष का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रथम आर्यसमाज की स्थापना बम्बई में ही, शनिवार, चैत्र सुदी ५, सम्वत् १९३२ को हुई। दक्षिण भारत की यात्रा समाप्त कर स्वामी जी उत्तर भारत आये। वे लगातार यात्रा ही करते रहते थे और उन्होंने भारत का कोना कोना छान डाला था। उस समय इनकी इतनी ख्याति हो गयी थी कि थियोसिफिकल सोसायटी की जन्मदात्री मैडम ब्लैवट्स्की तथा महा पंडिता रमाबाई इनसे मिलने आईं। कई राजा महाराजा भी इनके चेले हो गये थे जिनमें महाराजा बड़ोदा, महाराजा शाहपुरा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

जोधपुर नरेश महाराजा यशवंत सिंह ने स्वामीजी का बड़ा स्वागत सत्कार किया तथा उनके सामने वे फर्श के अलावा आसन पर बैठते ही न थे। स्वाजी को भी इनसे स्नेह हो गया था, एक दिन वेश्या नन्हींजान महाराज से मिलने आई और चेष्टा करने पर भी महाराज उसको स्वामीजी की आँखों से न छिपा सके। ब्रह्मचारी तपस्वी साधु ने महाराजा को बहुत फटकारा। उस वेश्या ने अपने इस शत्रु से बदला लेने का निश्चय किया। उसने षड्यंत्र करके स्वामीजी के पीने वाले दूध में विष मिलवा दिया। महापुरुष को वमन व दस्त होने लगी। पर, सब कुछ जानकर भी उन्होंने अपराधियों को क्षमा कर दिया। दूध देने वाले रसोइया जगन्नाथ ने अपना अपराध उनसे

स्वीकार कर लिया पर क्षमा ही तो साधुओं का आभूषण होता है। स्वामीजी ने उसे कुछ रुपये दिये और चुपचाप राज्य से चले जाने की सलाह दी।

चिकित्सा तथा वायुपरिवर्तन के लिये स्वामीजी आबू पर्वत चले गये। वहाँ भी हालत न सुधरी तो अजमेर आये। वहीं पर सम्वत् १९४० कार्तिक कृष्ण पूर्णिमा-दीपावली के दिन, मानव चोला छोड़ कर वे आत्म-स्वरूप ब्रह्म में लीन हो गये। भारतवर्ष शोक में डूब गया। देश की विभूति, उसे जगाने वाली महान् आत्मा तथा वैदिक सभ्यता का प्रचंड प्रचारक संसार से चला गया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद, उनके सम्प्रदाय वालों में, आर्य समाज, हिन्दू समाज तथा पराधीन भारत की सबसे अधिक सेवा करने वाले स्वामी श्रद्धानन्दजी हुए हैं।

सुधारक तथा विद्वान

कालिदास

महाकवि कालिदास संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। विश्व के पंडितों ने यह स्वीकार कर लिया है कि इनके समान हृदय-स्पर्शी कविता किसी की नहीं है। इनकी मुख्य रचनाओं का प्रायः सभी विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। जब तक भारत का सम्पर्क पश्चिमीय देशों से नहीं हुआ था, हमारे रत्नों का लोगों को पता भी न था। पर, ज्यों ही हमारी विद्या के भंडार का द्वार खुल गया और पश्चिम ने इस अपार राशि को देखा, वह उसे लूटने के लिये टूट पड़ा।

इनकी सभी रचनाओं का अभी तक पूरा पता नहीं चल सका है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी विचार है कि कुछ रचनायें दूसरों की हैं पर यश के विचार से कालिदास का नाम लेखक के रूप में दिया गया है। इनके महाकाव्यों में रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत तथा ऋतुसंहार मुख्य हैं तथा नाटकों में अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र नामक ही तीन नाटक हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ अभिज्ञान

शाकुन्तल समझा जाता है और यह कहना अनुचित न होगा कि शेक्सपियर का कोई नाटक इसके जोड़ का नहीं है।

शकुन्तला का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद सन्, १७८६ में हुआ था। १७९१ में जर्मन तथा १८३० में फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित हुआ। विक्रमोर्वशीय का प्रथम अनुवाद जर्मन भाषा में सन् १८३२ में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी अनुवाद सन् १८५१ में छपा। तीसरा नाटक मालविकाग्निमित्र इतना उच्चकोटि का नाटक नहीं है जितने ऊपलिखित प्रथम दो। पर, यह भी साधारण रचना नहीं है। इसमें चरितनायक अग्निमित्र तथा नायिका मालविका का चित्रण बहुत ही सुन्दर हुआ है इसका सर्व प्रथम अनुवाद सन् १८४० में हुआ था। मेघदूत का अनुवाद सन् १८१३ में अंग्रेजी में छपा था। "नलोदय" का प्रथम जर्मन अनुवाद सन् १८३० में छपा। इस प्रकार यह प्रकट है कि १८ वीं सदी के अन्त से १९ वीं सदी के मध्य तक, ज्यों ही पाश्चात्य देशवालों को हमारी भाषा की इन निधियों का पता चला, वे अपने साहित्य को इन खजानों से भरने लगे और यूरोप में कालिदास के ग्रन्थों के अनुवाद की धूम मच गयी। प्रसिद्ध जर्मन महाकवि गेटे ने शकुन्तला का अनुवाद पढ़कर मग्न होकर कहा था कि—"यदि तुम युवावस्था के फूल और प्रौढ़ावस्था के फल और अन्य ऐसी सामग्रियाँ एक ही स्थान पर खोजना चाहो जिनका आत्मा पर प्रभाव पड़ता हो, उसकी प्यास बुझती हो, उसे शान्ति प्राप्त होती हो यानी यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हो" तो मेरे मुख से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है—"शकुन्तला"।

कालिदास के ग्रंथों की समीक्षा करने का यहाँ पर स्थान नहीं है। उनमें साहित्य तथा शृंगार की ऐसी प्रचुरता है कि

पाठक का हृदय मधुर कंपन से आन्दोलित हो उठता है। मेघदूत में जब विरही यक्ष ने मेघों को दूत बनाकर अपनी पत्नी के पास संदेश भेजा है, उसकी एक एक पंक्ति अद्भुत है। अतुल है। रघुवंश में रघुवंशी राजाओं का चरित्र चित्रण करने के बहाने उदार पुरुषों का आदर्श जीवन जनता के सामने रखा गया है। हरेक ग्रन्थ का अपना अलग महत्व तथा मूल्य है। संस्कृत साहित्य से इनके ग्रन्थों का इतना अटूट संबंध है कि संस्कृत वाङ्मय की शिक्षा का कालिदास के ग्रन्थों से ही प्रारम्भ होता है। इनको काव्य-शास्त्र में उपमा या उदाहरण का राजा कहते हैं। यह सत्य है कि इनके ऐसा सुन्दर तुलना तथा मिलान कोई नहीं दे सका है। कालिदास के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने सत्य ही कहा है:—

कालिदास गिरां सारं कालिदास सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु यादृशाः॥

अर्थात् कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने समझा है। ब्रह्मा, सरस्वती तथा स्वयं कालिदास। इनके गूढ़ ग्रंथों का अर्थ लगाना बड़ा कठिन काम है। पर इन ग्रन्थों में गूढ़ता या केवल काम व शृंगार ही नहीं भरा पड़ा है। उन्हीं में अमूल्य उपदेश भी भरे पड़े हैं जैसे:—

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।

(वृक्ष अपने सर पर गर्मी सह लेता है पर अपनी छाया से औरों की गर्मी से रक्षा करता है।)

२—याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

(सज्जन से निष्फल माँगना भी अच्छा है पर नीच से माँगने में यदि सफलता हो भी तो ऐसी याचना उचित नहीं।)

३—एकोहि दोषो गुण सन्निपाते ।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

(गुणों के समूह में एक दोष वैसे ही छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की ज्योति में उसका कलंक ।)

भारतीय समाज के आदर्श का कितना सुन्दर प्रतिपादन है ?—

त्यागाय संभृतार्थानाम् सत्याय मितभाषिणाम्
यशसे विजगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्
शैशवेऽभ्यस्त विद्यानाम, यौवने विषयैषिणाम्
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम ।

व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये उपयोगी इन अमूल्य पंक्तियों का सरल सुन्दर अर्थ है । कालिदास का आदर्श-नरेश त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिये मितभाषी है (ज्यादा बोलने से मिथ्या भाषण न हो जावे , यश के लिये विजय की कामना करता है, परापहरण के लिये नहीं । गृहस्थी में प्रवेश कर अपनी वासना नहीं पूरी करता, संतान उत्पन्न करता है । बचपन में विद्योपार्जन, जवानी में जीवन का सुख, बुढ़ापे में संसार के प्रपंच से मुँह मोड़कर मुनिवृत्ति और मृत्यु द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।

इस महान आदर्श पर आज कितने नरेश या उनकी प्रजा चल रही है ? पर, भार .य इतिहास कहता है कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य ऐसे ही नरेश थे । विक्रमादित्य तथा विक्रमीय सम्वत् के प्रवर्तक नरेश कब पैदा हुए जब यही तय नहीं है तो यह कहना कठिन है कि कालिदास का जन्म कब हुआ था तथा इनका काव्य-काल कब था । विक्रमादित्य के विषय में बड़े बड़े सिद्धान्त तथा शास्त्रीय विवेचन हो चुके हैं और यही नहीं तय हो पाता है कि कौनसा वास्तविक काल उनका माना जावे । अधिकांश मत यही है कि गुप्त युग में

चन्द्रगुप्त द्वितीय नामक पराक्रमी नरेश ने भारत दिग्विजय कर अपनी उपाधि विक्रमादित्य रखी थी और पूर्व प्रचलित मालव सम्वत् का नाम विक्रम सम्वत् कर दिया था। उन्हीं के नव रत्नों में कालिदास थे। यही निर्णय सबसे ठीक प्रतीत होता भी है क्योंकि इस युग के बाद फिर उतना प्रतापी राजा हर्ष ही हुआ और हर्ष के समय भारत विद्या तथा साहित्य की उस सीमा को नहीं पहुँच पाया था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय। यशोवर्म्मा (ललितादित्य) का समय सन् ६९३ से ७२९ तक है। इनके समय में वाक्‌पतिराज और भवभूति ऐसे प्रकांड कवि हो गये हैं। भवभूति की रचनाओं पर कालिदास की छाप स्थान-स्थान पर मिलती है। अतएव कालिदास अवश्य काफी पहले पैदा हो चुके थे। इसलिये कालिदास का समय सन् ३७५ मानना ही उचित होगा।

किन्तु, इनके जीवन के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं मालूम है। कथा तो यह है कि अपढ़ ब्राह्मण थे जिनका विवाह धोखा देकर एक विदुषी कन्या से करा दिया गया था। उसे पहली भेंट में ही मालूम हो गया कि वह एक मूर्ख के साथ ब्याही गयी है। अतएव कालिदास घर से निकाल दिये गये। इस घटना से इन्हें इतनी ग्लानि हुई कि काशी जाकर बड़े परिश्रम से विद्याध्ययन किया और दैवी प्रतिभा तथा सरस्वती की कृपा से संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि बन गये। इनके विषय में यह भी प्रचलित है कि बड़े विलासी तथा आरामतलब आदमी थे। हरेक कवि में कोई न कोई विशेषता तो होती ही है।

इससे अधिक इस महापुरुष के जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं मालूम है किन्तु, इनकी रचनाएँ, उनके द्वारा संस्कृत साहित्य तथा उसके भी द्वारा भारतवर्ष चिरंजीवित है और रहेगा।

राजा राममोहन राय

प्राचीन भारतीय अथवा हिन्दू सभ्यता में समय पाकर जो क्रमागत दुर्गुण और खराबियाँ पैदा होती गईं तथा उनके सुधार के लिये किस प्रकार महापुरुष जन्म लेते गये और हमारे धर्म को, हमारी शिष्टता और सदाचार को भ्रष्ट होने से बचाते गये, इसकी कुछ जानकारी हमारे पिछले अध्यायों से प्राप्त हो गयी होगी। धर्म एक है, सत्य एक है। पर समय काल के अनुसार उसमें थोड़ा बाहरी परिवर्तन होता ही रहता है और होना भी चाहिये। पर, जब यह परिवर्तन ऐसा हो जावे कि लोग मूल-तत्व को ही भूल जावें तो वास्तव में समाज का पतन प्रारम्भ हो जाता है। यही दशा १६ वीं सदी में भारतवर्ष की हुई। पश्चिम की सभ्यता के सम्पर्क में आकर जहाँ एक सम्प्रदाय अपने धर्म तथा रीति-रिवाजों से घृणा करने लगा था, वहीं

हिन्दू-समाज का एक बहुत बड़ा अंग अशिक्षा के कारण कोरी मूर्त्ति पूजा और उसके बाहरी आडम्बरों में इतना उलझ गया था कि अपने वेद पुराण सब कुछ भूल बैठा था। मूर्त्ति-पूजा एक ऐसा साधन है, ऐसा मार्ग है जिससे ईश्वर तक पहुँचने का सहारा मिलता है। यह स्वतः सम्पूर्ण चीज नहीं है। भगवती काली के चरणों में बैठ कर परमहंस रामकृष्ण ने परब्रह्म का तत्व पहचाना था। पर जो व्यक्ति केवल मूर्त्ति के बाहरी शृंगार, सजावट, नाच गाने में फंस जाता है, वह असली तत्व को ही खो बैठता है। १९ वीं सदी में यह दशा केवल हिन्दुओं की ही नहीं, मुसलमानों की भी हो रही थी। मुसलमान भी अपनी हुकूमत खोकर, गुलाम बन कर, अपने मजहब के असली उसूलों को भूल चले थे और क़ब्रिस्तानों पर जलसे, झाड़-फूंक, फ़ातिहा आदि में ही धर्म का असली रूप देख रहे थे। हुकूमत के घमंड में तथा हरेक हिन्दुस्तानी को नीची निगाह से देखने की आदत पड़ जाने के कारण, ईसा मसीह के पवित्र धर्म को भूलकर ईसाई भी इधर-उधर के रीति-रिवाजों के पचड़े में जकड़ गये थे इन सबको, १९ वीं सदी के प्रारम्भ में, सीधे तथा सही रास्ते पर लाने का श्रेय केवल एक व्यक्ति को है। उनका नाम था राममोहन राय।

राममोहन राय भारत के सब से बड़े समाज सुधारकों में से हैं। हिन्दुओं में फैले हुए पाषंड तथा वितण्डावाद को देखकर इन्हें बड़ा क्षोभ हुआ था। वेद तथा उपनिषद् के अध्ययन से इनकी आँखें खुल गयी थीं और 'ईश्वर एक है' का सिद्धान्त मन पर प्रभाव कर गया था। प्रचलित मूर्त्ति-पूजा के प्रति इनके मन में विद्रोह उत्पन्न हो गया था और अपढ़ पुरोहितों के प्रति घृणा हो गयी थी। इसी विचार धारा के कारण इनकी अपने पिता से अनबन हो गयी और राममोहन

इधर-उधर भारत में घूमते रहे। तिब्बत तक गये थे। तीन वर्ष के बाद जब ये घर लौटे तो पिता ने बड़े प्रेम से इनको पुनः अपने पास रख लिया पर, पिता के कट्टर वैष्णव परिवार में तथा माता के कट्टर शाक्त-कुलमें, इनके विचारों का कौन आदर करता। "ईश्वर एक है" और संसार में सब कुछ मिथ्या है। जप-तप मूर्त्ति पूजा आचार-विचार का वर्तमान रूप सब झूठ है—ऐसी बातें कहने वाले की कौन सुन सकता था। इस समय इनकी अवस्था २० वर्ष की हो गयी थी और वे काशी चले गये जहाँ उन्होंने १२-१८ वर्ष तक रहकर घोर अध्ययन किया।

इनका जन्म २२ मई, सन् १७७२ में, हुगली जिले के कृष्ण-नगर के निकट राधानगर में हुआ था। कुलीन ब्राह्मण परिवार था जिसका बंगाल की नवाबी में काफी आदर था। इनके दादा श्री ब्रजविनोद चंद्योपाध्याय नवाब सिराजुद्दौला के महत्वपूर्ण कारबारी तथा दरबारी थे। पर नवाब से कुछ अनबन हो जाने के कारण नौकरी छोड़कर घर चले गये थे। उनके पाँच लड़के थे। पाँचवें लड़के रमाकान्त ही राममोहन राय के पिता थे। बचपन से ही बालक में प्रतिभा के समूचे लक्षण देखकर उसे काफी अच्छी शिक्षा दिलायी गयी और बंगाली, अरबी, फारसी, के अतिरिक्त काशी भेजकर संस्कृत की शिक्षा भी दिलायी गयी। अरबी, फारसी की शिक्षा पटना में प्राप्त की थी। उस समय इन भाषाओं की शिक्षा का पटना ही केन्द्र था। २४ वर्ष की अवस्था से उन्होंने अंग्रेजी सीखना भी शुरू किया और सन् १८०३ तक वे अंग्रेजी में पंडित होगये थे। कुरानशरीफ इत्यादि में भी अच्छे पंडित थे तथा ईसाई मजहब की असलियत जानने के लिये इन्होंने यूनानी तथा हिब्रू जबान भी अच्छी तरह सीखा था। संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी सभी भाषाओं में इनके उच्च कोटि के ग्रंथ उपलब्ध हैं।

सन्, १८०३ में, इनके पिता की मृत्यु होगयी। अब राममोहन ने काशी छोड़ दिया और ईस्ट इंडिया कंपनी में जॉन डिग्बी कलेक्टर के आधीन क्लर्क का काम ले लिया। डिग्बी साहब जिला रंगपुर के कलेक्टर थे और राममोहन के काम से ऐसे प्रसन्न हुए कि कुछ ही समय में उनको महकमा माल में सब से बड़ा देशी अफ़सर बना दिया गया यानी वे "दीवान" हो गये। रंगपुर में ही रहते समय राममोहन ने जैनियों के कल्पसूत्र तथा अन्य ग्रंथों का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त वे पंडितों से वादाविवाद भी किया करते थे तथा अद्वैत निराकार ईश्वर के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहते थे। इस प्रकार के वादा-विवाद में विद्वन्मण्डली इनके सामने ठहर न पाती फलतः पुराने दक़ियानूसी पंडित इनके बहुत खिलाफ़ होने लगे। यही नहीं, उनकी शिकायतों के कारण इनकी माता तारिणी देवी भी इनसे अप्रसन्न होगयी थीं। माता की अप्रसन्नता के कारण राममोहन को घर पर रहना भी सम्भव न रहा।

अस्तु, १८११ में एक ऐसी घटना हुई जिसने भारत का बड़ा भारी कल्याण ही किया। उन दिनों बंगाल में तथा भारत के कुछ और अंशों में यह प्रथा चल निकली थी कि पति के मरने के बाद चाहे स्त्री की इच्छा हो या न हो, उसे पति की चिता पर बैठकर सती होना ही पड़ता था। राममोहन के बड़े भाई जगमोहन की मृत्यु पर उनकी स्त्री भी चिता पर बैठीं पर जब आग लगादी गयी और उनका शरीर भस्म होने लगा तो दर्द व पीड़ा के कारण वे चिता से उतर कर भागना चाहती थीं। इस पर लोगों ने बाँस से मार-मार कर उनको चिता पर से न उतरने दिया और घड़ी-घंटा-शंख की तुमुल ध्वनि में उनका चीत्कार और रुदन सुनायी तक न पड़ा। इस दर्दनाक तथा अमानुषिक अत्या-चार को धर्म के नाम पर होते देखकर राममोहन को अत्यन्त

काँप उठी, विद्रोह कर बैठी। उस महापुरुष ने, उसी समय संकल्प किया कि इस प्रथा को नष्ट करके ही दम लूँगा। उनके अकेले आन्दोलन का ही परिणाम था कि घोर दकियानूसी पंडितों के अत्यधिक विरोध करने पर भी, तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने इस प्रथा को ही ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दिया तथा सन् १८२९ में "सती क़ानून" पास हुआ।

अस्तु, सन् १८१० में राममोहन जी ने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। उन्होंने यह देखा कि जिस उद्देश्य को पूरा करने का समाज, साहित्य तथा जनता की सेवा का वे संकल्प ले चुके हैं, वह सरकारी नौकरी में रहते पूरा न हो सकेगा। अतएव काम छोड़कर वे माता के पास रहने चले गये थे, जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सती की घटना के बाद वे पूर्णतः सामाजिक सेवा तथा सुधार में जुट गये। सन् १८१४ में कलकत्ते में स्थायी रूप से रहने लगे।

सन् १८०३ में उनकी पहली पुस्तक फ़ारसी में प्रकाशित हुई थी "तुहफ़त-उल-मुवाहदीन" अर्थात् एकीश्वरवादियों को एक भेंट। इसके बाद तो इनके अनेक ग्रंथ निकले। उपनिषदों का मूल संस्कृत संस्करण प्रकाशित कराया। बंगला, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में वेदान्त के संक्षिप्त सिद्धान्त प्रकाशित किये। सन् १८१५ में बंगला में वेदान्त सूत्र की भाषा टीका प्रकाशित की। सन् १८१६ में केन तथा कठ-उपनिषद् का बंगला तथा अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया। १८१७ में हिन्दू एकीश्वरवाद पर ग्रन्थ निकाला। इसके अलावा, बंगला भाषा में साहित्यिक पोथी, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, आदि पर भी ग्रन्थ निकाले। इस प्रकार राममोहन राय ने इकेले, अपनी क़लम से, हिन्दू वेदान्त का भूला हुआ सार तत्व सबके सामने रख दिया। अंग्रेज़ों (पाश्चमीय सभ्यता वालों) के लिये भी इस महान धर्म से

परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। बंगला साहित्य धनी हो गया। वास्तव में बंगला साहित्य की रूप-रेखा राममोहन के समय में ही बनना शुरू हुई। किन्तु, यह समझना भूल होगी कि इनकी रचनायें केवल धर्म के विषय पर ही होती थीं। भारतीय महिलाओं की दुर्दशा देखकर, उनके हितों की रक्षा के लिये, उनके अधिकारों की मर्यादा पुनः स्थापित करने के लिये, सन् १८२२ में प्रकाशित इनका ग्रन्थ "महिलाओं के प्राचीन अधिकारों के नवीन अप-हरण पर संक्षिप्त विचार"—पठनीय और माननीय है। इस अंग्रेजी ग्रन्थ ने उस समय धूम मचा दी। इसी प्रकार, "बंगाल मे "पूर्वजों की सम्पत्ति में हिन्दुओं में उत्तराधिकार" पर इनका निबन्ध इनकी क़ानूनी लियाक़त तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा का साक्षी है।

केवल हिन्दू धर्म पर ही इनकी क़लम नहीं चली। सन् १८२० में "ईसा की शिक्षा, शान्ति तथा सुख की प्रदर्शिका" नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही दक़ियानूसी पादरी बिगड़ उठे थे सिरामपुर के पादरियों ने बड़ा ही हल्ला मचाया। ईसा की शिक्षाओं में से प्रचलित ईसाई जादू-टोना रीति-रिवाज को निकाल देने से पादरी काफ़ी नाराज थे। उसके बाद ही इनका इसी सम्बन्ध में दूसरा ग्रन्थ निकाला। पर विवेकशील अंग्रेज एक हिन्दू विद्वान् की क़लम से ऐसी गवेषणापूर्ण तथा उचित पुस्तक को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और इनका बड़ा आदर करने लगे थे।

राममोहनजी का मन्त्र था कि "सब धर्मों में तात्विक एकता है। सब धर्म एक हैं। सभी पैग़म्बर, अवतार या धर्म-प्रचारक आदरणीय हैं।"

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"

"एक ही महान पुरुष को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जा रहा है। संसार में सब भाई हैं। बन्धु हैं। उस ईश्वर की उपासना का एक समान गृह होना चाहिये जहाँ बिना किसी रोक-टोक के सभी पुजारी उपासना कर सकें।" इसी विचार से उन्होंने एक सर्व-व्यापक विश्वमंदिर का आयोजन किया और २३ जुलाई, १८२३ को उस "एक-मात्र सर्वस्व" का मन्दिर खुल गया। भारत ही नहीं, विश्व के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना थी। प्रसिद्ध ब्रह्म-समाज का यहीं से प्रारम्भ होता है। आगे चल कर, इसी मन्दिर में महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्री केशवचन्द्र सेन ऐसे प्रतिभाशाली तथा धुरंधर विद्वानों ने बैठ कर "परमात्मा एक है" का अलख जगाया था। यह मन्दिर विवेकशील, बुद्धिमान, प्रगतिशील तथा नवीन भारत का उद्गम स्थान होगया।

राममोहन जी भारत के सर्वप्रथम राजनैतिक नेता भी थे। उनका विचार था कि जब अंग्रेजी राज्य भारत में आगया है, तो ऐसा ध्यान रखा जावे कि उसके द्वारा अपने देश की हानि न हो। पश्चिम और पूर्व की सभ्यता के मेल में हम पिछड़ न जावें। इसका उन्हें बड़ा ख्याल था और वे बड़ी निर्भीकता के साथ राजनैतिक अधिकारों के लिये संघर्ष करते थे। भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर एक प्रगतिशील भाषा से सम्पर्क स्थापित कर अपना विकास करने के वे पक्षपाती थे और इसी लिये संस्कृत-फ़ारसी तथा बंगला के इस परम प्रेमी ने अपना एक निजी स्कूल भी खोला था जिसमें अंग्रेजी के साथ वेदान्त की भी शिक्षा दी जाती थी। इस स्कूल का नाम ही था "वेदान्त स्कूल" और देवेन्द्रनाथ ठाकुर इसके विद्यार्थियों में से थे। अंग्रेजी शिक्षा को पूरी तरह से चालू करने की राममोहन जी ने बड़ी हिमायत की, यद्यपि इनके मरने के दो वर्ष बाद यह काम पूरा हुआ।

केवल शिक्षा ही नहीं, राजनीति के अन्य प्रश्नों में भी इन्होंने काफी दिलचस्पी ली थी। सन् १८२३ में एक प्रेस आर्डिनेन्स द्वारा यह आज्ञा जारी की गयी थी कि बिना बड़े लाट से अनुमति लिये कोई व्यक्ति अखबार नहीं निकाल सकता। समाचार पत्रों की स्वाधीनता पर यह कुठाराघात देखकर राममोहन जी ने एक आन्दोलन खड़ा किया और बड़े सम्भ्रान्त हिन्दू-मुसलमानों से हस्ताक्षर कराकर गवर्नर जनरल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा। भारत के राजनैतिक स्वत्वों के लिये अंग्रेज सरकार के प्रति होने वाले आन्दोलन का यही श्रीगणेश था। सन् १८२७ के जूरी ऐक्ट द्वारा हमारे न्याय शासन में भी धार्मिक भेदभाव खड़ा किया जा रहा था। उसके विरुद्ध भी आन्दोलन खड़ा किया गया तथा प्रार्थना पत्र भिजवाया गया। पर, असफलता दोनों ही बार रही। सन् १८३० के बाद सम्राट द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय शासनकाल के पट्टे की मियाद बढ़ाने और नई हिदायतें देने का समय आ गया था। स्मरण रहे कि कम्पनी के नाम यह अंतिम पट्टा था। इसके बाद १८५७ के गदर के उपरान्त ब्रिटिश सम्राट तथा पार्लमेंट ने भारत का शासन अपने हाथ में लिया था। अस्तु, पट्टा बदलने के समय ब्रिटिश पार्लमेंट ने एक सेलेक्ट कमेटी बिठायी थी। राममोहन जी ने अपने लंदन प्रवास के समय इसे काफी प्रभावित किया। ईस्टइन्डिया कम्पनी का व्यापारिक जीवन समाप्त होकर यह शुद्ध शासक संस्था बन गयी। इस कार्य में भी इनका हाथ था।

हमने अभी तक इनके नाम के आगे "राजा" और "राय" की उपाधि नहीं लगायी थी। वास्तव में "राजा" की उपाधि तो इन्हें १८३० में मिली पर राय इनकी खान्दानी उपाधि थी। बंगाल के नवाबों ने इनके परिवार की सेवाओं से प्रसन्न होकर

इनके पूर्वजों को "रामराय" की उपाधि दी थी जो बाद में संक्षिप्त रूप में "राय" मात्र ही रह गयी। सन् १८३० में दिल्ली के नाम मात्र के बादशाह अकबर द्वितीय ने अपनी फरियाद ब्रिटिश सम्राट तक सुनाने के लिये इनको अपना प्रतिनिधि चुना और राजा की उपाधि से विभूषित कर लन्दन भेजा। १५ नवम्बर १८३० को राजा राममोहन राय "एल्बिओन" नामक जहाज से रवाना हुए और ८ अप्रेल १८३१ को लिवरपूल पहुँचे। यूरोप यात्रा की इनकी महत्वाकांक्षा पूरी हुई। सम्राट अकबर के लिये कुछ रियायतें प्राप्त हो भी गयी हां पर उससे बड़ा काम यह हुआ कि अंग्रेजों के पास भारत का दुःख दर्द सुनाने वाला और भारतीय विद्या तथा प्रतिभा का उदाहरण देने वाला पहला भारतीय पहुँचा। इनका यश वहाँ पहले ही पहुंच चुका था ईस्ट इंडिया कंपनी ने इनके सम्मान में एक भोज दिया। ब्रिटिश सम्राट विलियम चतुर्थ ने उनको अपने पास सम्मान के साथ आने की आज्ञा दी। सम्राट जार्ज चतुर्थ के राज्याभिषेक के समय उनको विदेशी राजदूतों की श्रेणी में बिठाया गया। जब वे फ्रांस गये तो वहाँ के नरेश लूई-फिलिप ने इनको कई बार अपने पास बुलाया था। इसके अतिरिक्त कई ब्रिटिश संस्थाओं ने इनका आदर सत्कार किया।

पर, अत्यधिक परिश्रम के कारण ये काफी थक गये थे अतएव विश्राम करने के लिये सितम्बर १८३३ में ब्रिस्टल आये यकायक यहाँ वे १८ सितम्बर को बीमार पड़ गये और २७ सितम्बर १८३३ को ही, ९ दिन की बीमारी में, इनका देहान्त होगया। जिस स्थान पर इनका शव गाड़ा गया था, वहाँ पर एक मन्दिर-रूपी स्मारक बन गया है।

इनकी मृत्यु से अंग्रेजों तथा भारतीयों को समान रूप से दुःख हुआ। इस वीर, साहसी विद्वान् सुधारक ने पूर्व पश्चिम

को एक ही ऐक्यसूत्र में बाँधने का जो महान् कार्य किया था, वह संसार कभी न भूलेगा। उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय था। वे संसार को एक ईश्वर का प्रेमी तथा बन्धुत्व की समान भावना में बांधना चाहते थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्" के वे सबसे बड़े प्रचारक थे।

पं० मदनमोहन मालवीय

भारत में भारतीय राष्ट्रीय महासभा, अर्थात् कांग्रेस, मुसलिम लीग, राष्ट्रीय मुसलिम महासभा इत्यादि के अतिरिक्त हिन्दू महासभा भी अपना विशेष स्थान रखती है। विनायक दामोदर सावरकर, जिन्हें हम वीर सावरकर के नाम से पुकारते हैं, डा० मुंजे जिनको कर्नल मुंजे की उपाधि है तथा बंगाल सरकार के भूतपूर्व मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी आज हिन्दू-महासभा के प्राण हैं। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ऐसे जीवट के कार्यकर्ताओं ने हिन्दू-महासभा को बड़ा बल प्रदान कर रखा है तथा हिन्दुओं के हितों की रक्षा के लिये यह संस्था प्राणपण से चेष्टा कर रही है। डा० मुंजे ने हिन्दू-नवयुवकों को सैनिक शिक्षा दिलाने का प्रबल आन्दोलन किया है तथा वीर सावरकर ने, जो किसी समय में क्रान्तिकारी थे, हिन्दू जाति को सजीव करने के लिये बड़े प्रयत्न किये हैं।

पर, आज हिन्दू महासभा जिस गौरव को प्राप्त कर सकी है उसका श्रेय हमारे कट्टर हिन्दू-समाज सुधारक तथा विद्वान

पं० मदनमोहन मालवीय को है। कांग्रेस तथा हिन्दू महासभा दोनों की आपने अपरिमित सेवा की है।

इस आदरणीय व्यक्ति के अति निकट सम्पर्क में कई बार आने का सौभाग्य प्राप्त कर सका हूं। बिहार के भयंकर भूकंप के उपरान्त मुझे कई बार उनके पास जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। समाचार मिला कि नैपाल में भी गहरा भूकम्प आया है और इस विषय में नैपाल के महाराज के पास पं० जी का एक सहानुभूति पूर्ण तार भेजना था। पं० गोविन्द मालवीय क़लम कागज लेकर बैठे और पूज्य मालवीय जी ने तार लिखाना शुरू किया। मैं यह देखकर हैरान था कि किस प्रकार एक घंटे की बहस के बाद वह लगभग २५ शब्द का तार तय्यार हुआ। एक एक शब्द को काट छांट कर और उपयुक्त से उपयुक्त शब्द का प्रयोग करते देखकर मैं दंग रह गया। पूज्य मालवीय-जी की जिस मँजी और सुन्दर भाषा को पढ़ने और व्याख्यानों के सुनने के हम आदी होगये थे, उसका रहस्य मुझे उस दिन समझ में आया। महापुरुष लोग इसी प्रकार बहुत सोच समझ-कर मुँह से बात निकालते हैं और एक भी शब्द का दुरुपयोग नहीं करते।

मालवीयजी भारत के सब से बड़े व्याख्याता हैं। इनके टक्कर के दो ही व्याख्यान देने वाले भारत में थे, श्रीमती एनी बेसेंट तथा राइट-आनरेबुल श्री श्रीनिवास शास्त्री। श्रीमती एनी बेसेंट की मृत्यु के उपरान्त अब इस ऊँची श्रेणी के विश्व-विख्यात व्याख्यानदाता हमारे पास दो ही रह गये हैं। पूज्य मालवीयजी हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समान प्रभुत्व तथा स्वामित्व रखते हैं। संस्कृत के वे धुरंधर विद्वान हैं। यदि वे वकालत करते होते (जो काम इन्होंने शुरू में किया था) तो आज लाखों रुपया कमा चुके होते। पर वकालत को

बहस से अधिक उपयोगी कार्य इनको धर्म तथा समाज की सेवा में, कथा सुनाना प्रतीत होता है। मालवीयजी बहुत ऊँचे दर्जे के कथावाचक हैं। पं० राधेश्याम ऐसे प्रसिद्ध कथावाचकों को इनके द्वारा बड़ा उत्साह प्राप्त हुआ है। काशी विश्व विद्यालय में जिस समय मालवीय जी एकादशी के अवसर पर अपनी वाक्धारा में कथा सुनाते थे, विद्यार्थी-समुदाय रस से भींग उठता था। इस प्रकार केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में या पुराने ज़माने की कौंसिल में इनके ओजस्वी भाषण और भारतीय तथा हिन्दू-हितों के प्रबल प्रतिपादन को सुन कर विरोधी भी सर झुका लेते थे।

महामना मालवीयजी भारत के ही नहीं, दुनियाँ में सबसे बड़े भिखमंगे हैं। पर यह भिखारी अपने लिये एक पैसा नहीं मांगता। सरल-सीधी चाल से, सादा देशी खद्दर का वस्त्र पहनने वाला, सात्विक निरामिष भोजन करने वाला तथा पुरानी रीति विधि के अनुसार जाड़े के दिनों में भी वस्त्र उतार कर "चौका' में भोजन करने वाला यह महापुरुष अपने लिये किसी से दो मुट्ठी अन्न भी नहीं मांगता। पर, देश के हरेक सत्कार्य के लिये चाहे वह हरिजन सेवा के लिये हो, सनातन धर्म सभा, हिन्दू महासभा, गोरक्षा या भूकंप या अकाल पीड़ितों के लिये हो सबके आगे निस्संकोच रूप से हाथ पसारने वाले यही साहसी हैं। आज इनकी भिक्षा-वृत्ति से ही काशी में हिन्दू विश्व विद्यालय नामक भारत का सर्वश्रेष्ठ भव्य विश्वविद्यालय है जिसकी स्थापना सन् १९१६ में हुई थी। इसकी एक एक ईंट पर महामना मालवीयजी का उज्ज्वल यश अंकित है। इनकी तपस्या के इस प्रसाद ने भारत का मुख उज्ज्वल कर दिया है जीवन की अनेक उथल-पुथल से गुज़रते हुए भी, श्री रमाकान्त ऐसे अपने दिल के टुकड़े तथा बुढ़ापे में सुशीला साध्वी सहध

मिणी के बिछोह को भोगते हुए भी, इस गलित स्वास्थ्य तथा त्रस्त शरीर वाले साधु की जबान पर हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के कल्याण की रट लगी हुई है।

वे विद्वान हैं। समाज के परम सुधारक हैं। उन्होंने कट्टर सनातनधर्मी होते हुए भी साफ कह दिया कि हमारे देश में अछूत प्रथा कभी न थी। हरेक अछूत भाई का उद्धार होना चाहिये। इस कार्य में वे महात्मा गांधी के साथ हैं। हिन्दुओं की कायरता गो पशु की दुर्दशा, मोपला विद्रोह में हिन्दुओं पर अत्याचार' जलियाँवाला बाग की अमानुषिक घटना इन सब अवसरों पर ही नहीं, दक्षिण अफ्रिका के गाँधी सत्याग्रह के जमाने से लेकर मालवीयजी ने जो सत्य संघर्ष का जीवन बिताया है, वह भारतीयों के लिये उदाहरण की वस्तु होनी चाहिये। हिन्दू-महासभा की स्थापना कर' उसके पौधे को अपने परिश्रम के श्रम से सींचकर कांग्रेस की राष्ट्रीय आंधी में भी, लोगों की टीका-टिप्पणी की परवाह न कर, इस महापुरुष ने बड़े धैर्य के साथ हिन्दू-जाति की सेवा की है। कांग्रेस के अनन्य भक्त होते हुए भी, गांधीजी के गुरु के स्थान पर होते हुए भी, महामना गोखले तथा तिलक के पुराने साथी होते हुए भी, एक ओर कांग्रेस, दूसरी ओर हिन्दु महासभा' तीसरी ओर काशी विश्वविद्यालय, और चौथी ओर कौंसिल तथा असेम्बली में भारतीय हित के लिये युद्ध, पाँचवी ओर असेम्बली में नेशनलिस्ट पार्टी को जन्म देकर राष्ट्रीय तथा हिन्दू हितों की रखवाली के लिये लड़ने वाला दल-इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा के समान इस पंचानन कार्यकर्ता के विषय में क्या लिखा जावे। अपने स्वतन्त्र विचार तथा स्वतन्त्र कार्यपद्धति के कारण वे सदैव आलोचना की वस्तु रहे। कोई नहीं कह सकता कि इनके कितने अनुयायी तथा कितने विरोधी हैं। पर उन्होंने यह स्वयं जानने की कभी इच्छा न की।

"परोपकाराय सतां विभूतयः"

सज्जन लोगों का मर्म ही है कि वे परोपकार करें, वे किसी की निन्दा या स्तुति की परवाह नहीं करते। मालवीयजी हिन्दू-सभ्यता के प्रतीक हैं। सनातन धर्म तथा मूर्ति-पूजा को हरेक हिन्दू के लिये कल्याणकारी मानते हैं। वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती हैं। पर, उनमें एक अद्भुत विचार स्वातन्त्र्य है। एक विशिष्ट निष्ठा है जो हमें यह मानने के लिये मजबूर करती है कि यदि सनातन-धर्म का वही रूप है जो मालवीयजी बतलाते हैं तो वास्तव में वह हरेक हिन्दू के लिये कल्याणकारी है।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शरीक होने के लिये वे विलायत गये। अद्भुत शक्ति के साथ उन्होंने भारतीय तथा हिन्दू-हित का प्रतिपादन किया। यूरोप भी गये। जहाँ कई दिन निराहार रह गये पर केवल दूध और गंगाजल के स्थान पर और कुछ न ग्रहण किया। भोजन तभी किया जब शुद्ध सात्विक रूप से बन सका। आहार-व्यवहार में सात्विकता तथा शुद्धता के वे कट्टर समर्थक हैं।

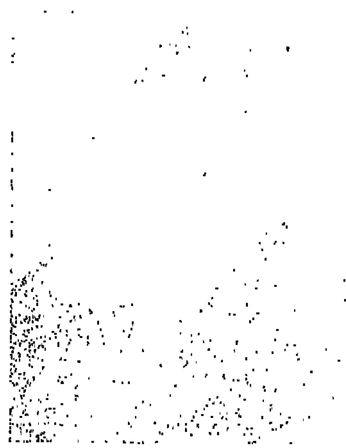
पर, उनका धर्म उनकी देशभक्ति में बाधक नहीं, सहायक होता है। देश की सेवा में वे कई बार जेल हो आये हैं। बुढ़ापे में जेल की यातना सही है। कांग्रेस से बार-बार मतभेद होते हुए भी उसके संकट काल में सदैव उसके साथ रहे। आज पचास वर्षों से एक ही धुन के साथ, एक ही उद्देश्य के साथ, एक ही तपस्या के साथ यदि किसी ने भारत की सेवा की है तो वह पं० मदनमोहन मालवीयजी ने। सब ने राजनीतिक रूप रंग बदला। पर, यहाँ तो एक ही रूप रहा। हिन्दी की सेवा के लिये भी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के रूप से इन्होंने जो रुख अख्त्यार किया वह अभीतक यथावत् है। तीर्थस्थानों में सेवाकार्य के लिये प्रयाग की सेवासमिति को जन्म देकर जो

सेवाकार्य प्रारम्भ कराया था वह भी अभी तक वैसे ही हो रहा है।

२५ दिसम्बर, १८६१ को इस महापुरुष का जन्म इलाहाबाद में हुआ था। वहीं म्योर सेन्ट्रल कालेज से इन्होंने सन् १८८४ में बी०ए० की परीक्षा पास की तथा १८८७ तक सरकारी हाई स्कूल में अध्यापक का काम करते रहे। १८९१ में वकालत पास कर १८९३ से इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। पर, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, देश के इस वकील ने, देश की वकालत के लिये, इस कार्य से शीघ्र ही छुट्टी ले ली। सन् १९०२ में वे युक्तप्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर हुए तथा १९१२ तक बराबर इस पद पर रहे। इसके बाद वे १९१९ तक वाइसराय की इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य रहे। इसी वर्ष "रौलटऐक्ट" के विरोध में उन्होंने इस कौंसिल की मेम्बरी से इस्तीफा दे दिया और फिर १९२६ में ही लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गये। इसी समय पं० मोतीलालजी अपनी स्वराज्यपार्टी सहित कौंसिल में पधारे थे। मालवीयजी ने नैशनलिस्ट पार्टी को जन्म दिया। पंजाब के शेर लाला लाजपतरायजी आपके सहयोगी थे। सन् १९१८ में मालवीयजी कांग्रेस के ३३ वें दिल्ली अधिवेशन के सभापति थे।

महामना मालवीयजी कुशल पत्रकार भी हैं। १९ वीं सदी के अन्त में आपने "हिन्दुस्तान" तथा इंडियन-यूनियन" नामक पत्रों का सम्पादन भी किया था। मालवीयजी प्रयाग के 'लीडर' अखबार के संस्थापकों में से थे।

यह विभूति अब देश की सेवा करते करते काफी थक गयी है। मन में वही उत्साह, बुद्धि में वही तेज तथा चरित्र में वही दृढ़ता है। पर, नाशवान शरीर जर्जर हो गया है। वे अधिकतर बीमार रहते हैं। भगवान उन्हें सवा सौ वर्ष तक हमारे बीच रखें ताकि हम उनसे अधिक से अधिक उपदेश प्राप्त कर सकें।



सर सय्यद अहमदखाँ

जिस प्रकार आजकल के जमाने में महामना पं० मदन-मोहनजी मालवीय हिन्दुओं के बे-ताज के बादशाह हैं, उसी प्रकार, अपने जमाने में, सर सय्यद अहमद खाँ मुसलमानों के सरताज थे। यद्यपि मालवीयजी की तरह उन्होंने हिन्दू महासभा तथा कांग्रेस दोनों का साथ देकर राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक सेवा का समन्वय नहीं किया तथा वे केवल मुस-लिम संस्था तथा समाज की सेवा में दत्त-चित्त रहे और कांग्रेस के जन्म और उसकी प्रगति से अलग रहे पर राष्ट्र का हित सदैव उनके सम्मुख था तथा वे मुसलमानों को भारतीय राष्ट्र का योग्य सदस्य बनाना चाहते थे। मालवीयजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय को जन्म दिया। सर सय्यद ने अलीगढ़ के मुसलिम विश्वविद्यालय की स्थापना की जो आज काफी उन्नत

संस्था है और अब तो अपना मेडिकल कालेज भी खोलने जा रही है । हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डा० राधाकृष्णन् हैं तथा मुसलिम विश्वविद्यालय के डा० जियाउद्दीन । दोनों ही उत्कट श्रेणी के विद्वान हैं तथा सर राधाकृष्णन् की गणना संसार के प्रमुख दार्शनिकों में होती है ।

सर सय्यद के कार्यकाल के समय मुसलमानों की बड़ी हीन दशा हो गयी थी । वे अपना राज्य खो चुके थे । रस्सी जल गई थी पर ऐंठन बाक़ी रहने के कारण वे किसी काम के नहीं रह गये थे । बेरोजगारी तथा तबाही उनकी जड़ में घुन की तरह बैठ गयी थी । सर सय्यद ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ यह समझ लिया था कि अब मुसलिम राज का रोना-पीटना बेकार है । अंग्रेजी प्रभुत्व आगया है, तो उसके अनुसार अपनी गतिविधि बदलनी चाहिये । हरेक समाज के समान ऊँचे उठने के लिये अंग्रेजी शिक्षा को भी अपनाना जरूरी है—यह बात इनके दिमाग़ में जम गयी ।

सय्यद साहब बड़े पुराने तथा प्रतिष्ठित खान्दान में पैदा हुए थे । सय्यद वंश मुहम्मद साहब का वंश समझा जाता है अतएव मुसलिम समाज में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है । इसके अतिरिक्त इनके परिवार की विद्या तथा पांडित्य की बड़ी ख्याति थी । इनके पुरखा सय्यद हादी साहब हेरात से हिन्दुस्तान आये थे । मुग़ल दरबार में इस खान्दान की बड़ी इज्जत था । इनके दादा जवाद अलीखाँ बादशाह आलमगीर द्वितीय के एक सिपहसालार थे और उनको जवादुद्दौला का खिताब मिला था । इनके नाना ख्वाजा फरीदुद्दीन अहमद अकबर द्वितीय के प्रधानमन्त्री थे । यह अकबर वही शासक थे जिन्होंने ब्रिटिश सरकार के पास अपना दूत बनाकर राजा राममोहनराय को भेजा था ।

इस महापुरुष का जन्म सन् १८५७ के गदर के ठीक ४० वर्ष पहले हुआ था। १७ अक्टूबर, सन् १८१७ में दिल्ली में इनका जन्म हुआ और वहीं बचपन में उर्दू-फारसी-अरबी की शिक्षा प्राप्त की। पिता तथा अन्य रिश्तेदारों के साथ प्रायः मुगल दरबार जाने का अवसर मिलता था जिससे इनको शिष्टाचार तथा उच्च व्यवहार की बड़ी अच्छी शिक्षा मिली। परिवार का गुण, उच्च साथ तथा निजी प्रतिभा ने इनको बालपन में बचपन से ही नेता के रूप में गढ़ दिया था। इनके पिता सय्यद मुहम्मद तक़ी बड़े विद्वान तथा भक्त आदमी थे। बड़े विनम्र तथा सुशील प्रकृति के थे। भक्ति, सुशीलता तथा विनम्रता की शिक्षा इन्होंने अपने पिता से ही प्राप्त की थी। सय्यद साहब की अंग्रेजी की शिक्षा बिलकुल ही न हुई और केवल बुढ़ापे में दो चार शब्द सीख पाये थे। अंग्रेजी से अपरिचित इस महापुरुष ने एक बड़ा अंग्रेजी विश्वविद्यालय खड़ा कर दिया।

कुछ तालीम पाने के बाद मुगल बादशाह बहादुरशाह ने इनको अपने यहाँ काम देना चाहा पर शायद इनके प्रतिभा शाली मस्तिष्क के सम्मुख मुगल दीपक बुझने के लिये टिमटिमा रहा था। अतः घर वालों के विरोध करने पर भी वे ईस्ट इंडिया कम्पनी के यहाँ नौकरी करने लगे और एक सरकारी अदालत में पेशकार या सरिश्तेदार हो गये। नौकरी के जमाने में भी वे अपने जीवन के असली उद्देश्य को नहीं भूले थे और उन्होंने सन् १८४४ में अपनी पहिली फारसी पुस्तक प्रकाशित की जिसमें दिल्ली के वैभव तथा उसके गौरवमय साधु संतों का बड़ा सुन्दर चित्रण था। यह पुस्तक आगे चलकर संसार का ध्यान अपनी ओर खींच सकी और इसके लेखक को सन् १८६४ में प्रसिद्ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने अपना सदस्य चुनकर सम्मानित किया।

सन् ५७ का ग़दर बिजनौर के इतने निकट हुआ था कि उसकी आंच वहाँ तक आना लाजिम था। सय्यद साहब उस समय यहीं सरकारी पद पर थे और आपने इस अवसर पर मेरठ में चार अंग्रेज़ों की जान बचाई थी। इसके पुरस्कार स्वरूप, इनकी मृत्यु तक इनको एक विशेष पेंशन मिलती रही। विप्लव की आग शान्त होते ही सय्यद अहमद खाँ दिल्ली गये। वहाँ इनके कुटुम्ब के सभी प्राणी मार डाले गये। केवल बूढ़ी माँ तथा पुरानी नौकरानी जीवित बची थीं। उन्होंने भी एक साईस के मकान में छिपकर अपनी जान बचायी थी। नौकरानी तो वहीं मर गयी पर माता को मेरठ ला सके। किन्तु, विप्लव की मारी वह वृद्धा वहाँ पहुँच कर एक महीने बाद ही अपने शेष परिवार के पास पहुँच गयी। उसकी मृत्यु से सय्यद साहब के हृदय को बड़ी चोट लगी। इन दिनों के अपने अनुभव को उन्होंने एक अमूल्य पुस्तक में लिखा है जिसका शीर्षक है "असबाब-ए-बग़ावत-ए-हिन्द" अर्थात् भारतीय विद्रोह के कारण। बाद में चलकर इसका अंग्रेजी अनुवाद सर आकलैंड कालविन तथा कर्नल ग्राहम ने किया था। इस पुस्तक का महत्व एक दृष्टि से और है। इसी समय से सय्यद का यह विश्वास दृढ़ होता गया कि उर्दू ज़बान को आम फ़हम बनाना चाहिये और उसे अरबी फ़ारसी के शिकंजे में जकड़ नहीं देना चाहिये।

अस्तु, इनका क्रमबद्ध जीवन सन् १८६२ से शुरू होता है, जब इनकी बदली गाजीपुर होगयी। यहाँ पर वे सबजज यानी सदराला बना कर भेजे गये। इनकी जान पहिचान असिस्टेंट सुपरेटेंडेंट पुलिस कर्नल ग्राहम से हुई। यही ग्राहम साहब आगे चल कर मेजर जनरल होगये थे और इन्होंने उनकी उपलिखित पुस्तक का अनुवाद किया था तथा इनका जीवन चरित्र भी लिखा था। ग्राहम ने गाजीपुर में बहुत काम किया था। वह बड़ा

विद्या-व्यसनी पुरुष था। यहीं से ग्राहम ने हिन्दी में अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद का काम शुरू कराया। यहीं पर एक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई जिसकी पहली बैठक सय्यद साहब के मकान पर हुई जिसमें भारतीय तथा यूरोपियन दोनों सम्मिलित हुए थे और समय पाकर यही संस्था अलीगढ़ की साइन्टिफिक सोसायटी बन गयी थी। स्मरण रहे कि गाजीपुर से सय्यद साहब अलीगढ बदल दिये गये थे और इनका प्रधान कार्यक्षेत्र अलीगढ़ ही रहा। गाजीपुर में इस समय पुराने जमाने के अच्छे मुसलमान रईस रहते थे और सय्यद ने इनमें पूर्वीय ज्ञान में पश्चिमीय सम्मिश्रण की चाट पैदा कर दी। शिक्षा प्रचार का कार्य वास्तव में बड़ी लगन के साथ यहीं से शुरू हुआ। पर अभी तक वह कोई ठोस रूप धारण नहीं कर सका था। तत्कालीन वाइसराय लार्ड लारेंस ने १८६६ में इन्हें एक स्वर्ण-पदक तथा "मेकाले" का संग्रह देकर इनके शिक्षा विषयक प्रेम तथा प्रचार के कार्य के प्रति आदर प्रकट किया था। इसके बाद ही सय्यद साहब सन १८६७ में संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी बदल दिये गये और यहां पर संस्कृत साहित्य के प्रचार तथा तत्संबंधी कार्य ने उर्दू के प्रचार तथा मुसलमानों की शिक्षा के सम्बन्ध में इनके विचारों को और भी दृढ़ कर दिया। इसी समय इन्होंने अपने दोनों लड़के सय्यद महमूद तथा सय्यद हमीद को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंगलैंड भेज दिया। इस जमाने में पश्चिम प्रवास के सभी विरोधी थे। पर सय्यद के इस साहसी कार्य ने मुसलमान तथा हिन्दू दोनों के सामने एक अच्छा उदाहरण रखा। १८६९ में लम्बी छुट्टी लेकर वे स्वयं इंगलैंड गये, यद्यपि वे एक शब्द भी अंग्रेजी नहीं जानते थे। सौभाग्यवश उन्हीं दिनों इनके मित्र ग्राहम साहब भी छुट्टी पर इङ्गलैंड गये हुए थे। फिर क्या था, सोने में सुहागा मिल गया। सय्यद का वहां बड़ा

नाम तथा सम्मान हुआ ! वृद्ध, यशस्वी लेखक कार्लाइल तक इनसे मिले थे और बड़ी देर तक बातें होती रहीं। १८६९ में इनको सितारेहिन्द का खिताब मिला और "सर" तो वे १६ वर्ष बाद हुए। इनके दोनों लड़के भी भारत सकुशल वापस आये। महमूद तो बैरिस्टर हो गया और हमीद सुपरिंटेंडेंट पुलिस।

अलीगढ़ कालेज की स्थापना के लिये इन्होंने सन् १८७२ से चन्दा इकट्ठा करना शुरू कर दिया। सन् १८७६ में नौकरी से 'रिटायर' हो गये और पेंशन ले ली। पर इनको विश्राम नहीं सूझता था—मुसलमानों को जगाने का संकल्प जो लिया था। ८ जनवरी १८७७ को अलीगढ़ कालेज की इमारत की नींव डाली गयी। तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिटन ने नींव रखी। सौभाग्य से कालेज को बड़े विद्वान अध्यापक गण भी मिल गये।

सर सय्यद ने केवल शिक्षा का ही कार्य नहीं किया मुसलिम शिक्षा सम्मेलन की नींव डालने के साथ ही वे मुसलिम लीग के भी संस्थापकों में से थे। मुसलिम साहित्य, कला, कविता, सबके उद्धार में उनका हाथ था। रीति-रिवाज सुधार, विदेशी यात्रा सम्बन्धी मूर्ख विचारों का विरोध तथा विवाह सम्बन्धी दकियानूसी खयालात के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठायी और हमारे मुसलमान भाइयों में आज जो जागृति दीख पड़ती है, उसका श्रेय उन्हींके अथक परिश्रम को है। कुरान की आयतों तक की जब वे अपने ढंग से व्याख्या करने लगे तो पुराने विचार के मुसलमान बहुत बिगड़े। पर, अन्त में उनको यह मानना पड़ा कि पैग़म्बर साहब के विचार कितनी अच्छी तरह से प्रकट किये जा रहे हैं।

सन् १८९८ में उनकी मृत्यु हुई। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अहाते में इस महापुरुष की कब्र है। वहीं सोते हुए वे मुसलिम बंधुओं को जागृति का संदेश सुना रहे हैं। ऐसे ही व्यक्तियों का जीवन धन्य है।



रमेशचन्द्रदत्त

रमेश बाबू का जन्म सौभाग्य से उस समय हुआ था जब कि बंगाल में एक नवीन स्फूर्ति तथा जीवन का संचार हो रहा था। राजा राममोहन राय की साधना के फल-स्वरूप भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति पुनः बंगालियों में अनुरक्ति उत्पन्न होगयी थी और संस्कृत की शिक्षा के साथ ही चारों ओर अंग्रेजी स्कूलों का संगठन हो रहा था और पश्चिमीय शिक्षा मिलने लगी थी। बंगाल के साहित्यिक जीवन में एक नवीन ज्योति जगमगा उठी थी और योग्य विद्वान उसके साहित्य को धनी बना रहे थे। १८३८ में बंकिम बाबू जन्म ले चुके थे और सन् १८५८ में डिप्टी कलेक्टर का पद प्राप्त करते ही, इनका साहित्यिक जीवन नियमित रूप से प्रारम्भ होने जा रहा था। बंकिम की लेखनी भारत के लिये गौरव की वस्तु है। उनकी

प्रतिभा का सूर्य, सन् १८६४ में उनकी मृत्यु के साथ अस्त न होकर भारतीय सभ्यता के साथ चमकता रहेगा।

रमेश बाबू के युग में भारत अपनी राजनीतिक निद्रा से जागकर करवट ले रहा था। वे स्वतः बड़े नर्म विचार के व्यक्ति थे तथा आज के जमाने में हमको उनकी राजनीति स्यात् मूर्खता-पूर्ण प्रतीत हो क्यों कि शासन सुधार के विषय में उनकी यह पक्की राय थी कि प्रगति धीरे-धीरे होनी चाहिये। पर, उस समय के वे नर्म विचार लार्ड कर्जन ऐसे वाइसराय के लिये उग्र विचार थे। किसानों की हालत का रमेशदत्त पर बड़ा भारी असर पड़ा था और वे उनके हित के लिये निरन्तर कार्य करते रहे। उन्होंने लगान सम्बन्धी सरकारी नीति का इतना अच्छा अध्ययन किया था कि जब १८८५-८७ के भीतर उन्होंने बंगाल के "टिनैंसी एक्ट" पर अपनी रिपोर्ट बंगाल सरकार के सामने पेश की, तत्कालीन भारतीय लगान सम्बन्धी समस्याओं के सबसे बड़े जानकार सर एन्टोनी मेकडनल ने कहा था कि इस विषय पर यह सबसे क़ीमती प्रकाशन है। रमेश बाबू ने ही सन् १८८२ में ग्राम पंचायतों की कल्पना की थी। अपने सरकारी पद से वे किसानों तथा काश्तकारों की इतनी सेवा करते थे, उनके साथ इतना न्याय करते थे कि बाज़ मौक़े पर उनके ऊपर के अफ़सरान उनसे अप्रसन्न भी हो जाया करते थे। यह उन्हींके प्रयत्न का परिणाम था कि सन् १८८५ में बंगाल में "टेनैंसी ऐक्ट" (काश्तकार बिल) पास हुआ और किसानों के लिये सुअवसर प्राप्त हुआ। केवल बंगाल के किसानों को ही नहीं, भारतवर्ष में जो नये किसान-क़ानून बने, उन सबका जड़ में रमेशदत्त का परिश्रम है। इनका जीवन सार्वजनिक सेवा में बीता पर साथ ही साहित्य तथा भारतीय-संस्कृति और सभ्यता को ऊँचा उठाकर संसार के सम्मुख लाने का जो महत् कार्य

इन्होंने किया, वह अनमोल है। सरकारी नौकरी करते हुए भी इन्होंने जो सार्वजनिक सेवा की तथा साहित्यक कार्य करते रहे, वह सरकारी नौकरों के लिये आदर्श की वस्तु है। आज सरकारी कर्मचारी शायद उतनी हिम्मत नहीं कर सकते जितनी कि इन्होंने सन् १८८९ के जमाने में दिखाई थी।

रमेशचन्द्र एक कुलीन कायस्थ परिवार में सन् १८४८ में पैदा हुए थे। इनके परदादा श्री नीलमणि दत्त क्लाइव तथा वारेन हैस्टिंग्स के जमाने में कलकत्ता के प्रमुख नागरिक थे। वहां के प्रसिद्ध राम बागानदत्त के परिवार के थे पूर्वज थे। सन् १८५४ में इनकी मृत्यु होगई और समूचा परिवार ईसाई होगया। एक दो शाखा ही बच रही। इस एक हिन्दू शाखा में ईशान-चन्द्र डिप्टी कलेक्टर थे जो श्री रमेशचन्द्र के पिता थे। १८५६ में ही रमेश की माता का देहान्त होगया और १८५१ में पिता भी नदी में डूब गये। इसी समय इनकी पढ़ाई कलकत्ते में शुरू हुई थी। अब इनका भार इनके चचा शशिचन्द्रदत्त पर पड़ा। शशि बाबू बड़े विद्वान्, लेखक तथा अच्छे स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने भतीजे की काफ़ी देखरेख की तथा १८६४ में उन्होंने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास कर ली। तीन वर्ष तक कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में शिक्षा पाने के बाद रमेश इंगलैंड भाग गये। मार्च, १८६८ में श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा बिहारीलाल गुप्त के साथ जहाज से वे रवाना हुए। सुरेन्द्र बाबू ही आगे चलकर अपने युग के भारत के सबसे बड़े नेता तथा वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत हुए। बिहारीलाल गुप्त भी घर से बिना कुछ कहे भागे थे। वे कलकत्ता हाईकोर्ट के जज के ऊँचे पद पर पहुँचे थे। यह तीनों मित्र "इंडियन सिविल सर्विस" की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिये गये थे और रवीन्द्र बाबू के भाई के बाद यही अन्य तीन भारतीय थे

जो इस कठिन परीक्षा में पास हो सके थे। १८६९ में, सफल होने के उपरान्त इनको दो वर्ष तक इगलैंड में काम सीखना पड़ा था और १८७१ में तीनों मित्र एक साथ ही फ्रांस, जर्मनी, स्विटजरलैंड, इटली आदि का चक्कर लगाते हुए भारत पहुँचे और बंगाल में ही इनकी नियुक्ति हुई। सरकारी पद पर रहकर, अनेक स्थानों पर कार्य करते हुए इनको कितनी कठिन परीक्षाओं से होकर गुजरना पड़ा, इसकी पूरी कहानी देने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही लिखना काफी है कि जिस जगह इनकी नियुक्ति हुई, वहाँ इन्होंने इतना अच्छा काम किया कि सरकार का यह आक्षेप गलत साबित होगया कि भारतीयों को किसी जिले का स्वतन्त्र हाकिम नहीं बनाया जा सकता। वे प्रथम भारतीय थे जो तीस लाख की आबादी वाले एक जिले के (बाकरगंज) दो वर्ष तक डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट रहे। अच्छे यूरोपियन इनकी प्रतिभा तथा योग्यता देखकर प्रसन्न होते थे तथा बुरे स्वभाव वाले अंग्रेज कुढ़ते और चिढ़ते थे। तरक्की करते करते वे सन् १८९४ में डिविजनल कमिश्नर नियुक्त हुए। यह प्रथम भारतीय थे जिसे यह आदरणीय पद मिला। १८९५ में वे उड़ीसा के कमिश्नर तथा वहाँ की रियासतों के पोलिटिकल एजेन्ट नियुक्त हुए। आजकल के जमाने में ये पद कोई महत्व नहीं रखते। पर उस समय इन पदों पर बड़ी योग्यता से काम सम्हाल कर रमेश ऐसे महापुरुष यह साबित कर रहे थे कि भारतीय स्वशासन के योग्य हैं। सन् १८९७ में पेन्शन लेने के लिये कम से कम अवधि की मियाद पूरी होगई, रमेश ने तुरत इंडियन सिविल सर्विस से इस्तीफा दे दिया और साहित्य तथा राजनीतिक सेवा में लग गये। पेन्शन लेने के बाद ही वे इंगलैंड चले गये और सात वर्ष तक वहाँ रहे। कभी कभी बीच में भारत भी आ जाते थे। यहाँ रहकर भारतीयों को राजनैतिक

अधिकार दिलाने के लिये इन्होंने बड़ा परिश्रम किया। प्रसिद्ध मिण्टो-मार्ले रिफ़ार्म (सुधार) ऐक्ट की रूप रेखा जब १९०८ में तय्यार हो रही थी, उसमें अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करने की इन्होंने बड़ी चेष्टा की। उन दिनों इतनी दूर की सोचना कि न्याय शासन तथा प्रबन्ध शासन का मुहकमा अलग-अलग हो, जनता को शासन में कुछ अधिकार मिले आदि, बड़ी दूर की कौड़ी लाना था। पर रमेशचन्द्र के मस्तिष्क में वे बातें घूम रही थीं। १८९७ में "इंगलैंड तथा भारत" नामक अपनी पुस्तक में इन्होंने यह दिखलाया था कि किस प्रकार भारत में प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य बिल्कुल ही नहीं है और उच्च सरकारी पदों पर भारतीयों को कितना कम स्थान प्राप्त है। सन् १८९९ में वे अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के १५ वें अधिवेशन में, जो लखनऊ में हुआ था, सभापति के सम्मानित पद पर आसीन थे। और उस समय उनका अध्यक्ष के पद से दिया गया भाषण भारतीय राजनीति के विकास के इतिहास में महत्व-पूर्ण स्थान रखता है।

१९०४ में रमेश जी बड़ोदा के माल-मंत्री और बाद में दीवान नियुक्त हुए। वहाँ के प्रगतिशील नरेश ने इनकी प्रतिभा को पहचान कर, इन्हें ही इस कार्य के लिये चुना था। इस पद पर रहकर, आपने राज्य में बड़े शासन सुधार किये। न्याय का मुहकमा प्रबन्ध शासन से अलग कर दिया गया। मंत्रियों की एक कौंसिल बना दी गयी। शासन कार्य में प्रजा की भी आवाज पहुँचने लगी थी। यहीं काम करने के दर्मियान में, ब्रिटिश सरकार ने इनसे एक और सेवा ली। भारतीय शासन में प्रान्तीय अधिकारों के निरुपण के लिये एक शाही कमीशन सन् १९०७ में बैठा। इसके एकमात्र भारतीय सदस्य श्री रमेश-चन्द्र थे। एक वर्ष तक यह कमीशन इंगलैंड में काम करता

रहा। इनको भी वहीं रहना पड़ा। यह अवसर वे मिण्टो-मार्ले शासन सुधार की योजना में सहायता देने में लगाते रहे। वहाँ से वापिस आकर फिर बड़ौदा में अपने काम पर आगये। पर, अत्यधिक परिश्रम से शरीर थक गया था। चन्द दिनों की बीमारी में ही ३० नवम्बर, १९०९ को इनका देहान्त होगया। इस समय इनकी उम्र ६१ वर्ष की थी। इनकी विधवा पत्नी, पाँच लड़कियाँ तथा एक मात्र पुत्र कलपता रह गया पर वे ही रोने वाले न थे। रमेश की मृत्यु से समग्र भारत दुःख से कराह उठा।

उनकी साहित्यिक सेवायें भी अत्यन्त मूल्यवान हैं। बंगला में लिखने का जोश तथा शौक़ तो बंकिम बाबू ने दिलाया और इन्होंने कई उच्च कोटि के उपन्यास लिखे। पर बंकिम की व्यापक प्रतिभा के सामने इनके बंगला ग्रन्थ उतने लोकप्रिय न हो सके जितना अङ्गरेजी के। प्रथम यूरोप यात्रा से लौटने के बाद इनकी जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी—"यूरोप में तीन वर्ष" उसका भारतीयों तथा यूरोपियनों ने समान रूप से आदर किया। सन् १८७७ में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ "बंगला साहित्य का इतिहास" (अँग्रेजी) में प्रकाशित हुआ। उसका भी काफ़ी सम्मान हुआ। पर, इनकी सब से अधिक आदरित अङ्गरेजी पुस्तकें तीन हैं— "प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास" (१८८९) "प्राचीन भारत के महानवीर-काव्य" (१८९८), पद्य में "रामायण तथा महाभारत का संक्षिप्त अनुवाद" और गद्य में "इंगलैंड और भारत" (१८९७)। बंगला में इन्होंने ऋग् वेद का सम्पूर्ण अनुवाद सन् १८८६ में पूरा किया और इस ग्रंथ ने इनके पांडित्य को अमर कर दिया। बड़े बड़े संस्कृत के विद्वानों ने इस अनुवाद को निर्दोष स्वीकार किया।

रमेशचन्द्र ने भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा की स्थापना तथा उसकी संस्कृति के प्रचार के लिये जो अथक साहित्यिक सेवायें की हैं, उनको जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है।

डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विदेशों में यदि महात्मा गांधी से अधिक नहीं, तो उतना ही जो नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है वह डा० रवीन्द्रनाथ टागोर का है। टागोर वास्तव में ठाकुर का अपभ्रंश है। साहित्य, कला, शृंगार, राजनीति के साथ ही मानवता के प्रति असीम दया तथा प्रेम का यदि किसी एक व्यक्ति के जीवन में सबसे अधिक सामञ्जस्य हो पाया है, तो वह डा० टागोर का है। वास्तव में ये साधुता तथा सौजन्य की मूर्त्ति थे तथा इनके गुणों के प्रति मुग्ध होकर ही महात्मा गांधी इनको गुरुदेव कहते थे। टागोर की क़लम से केवल बंगला साहित्य ही नहीं अति धनी होगया अपितु समूचा विश्व साहित्य खिल उठा। इस प्रतिभाशाली कवि, लेखक तथा राजनैतिक नेता ने अपनी लेखनी के मृदुल स्पर्श से प्रात: काल की सुरभि से भी अधिक मधुर स्पर्श द्वारा हरेक कली को खिला दिया। भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्रसुप्त चेतनता को जागृत कर दिया।

इनके पिता महात्मना देवेन्द्रनाथ ठाकुर का जिक्र हम राजा राममोहन राय के आत्म चरित में कर आये हैं। उन्हीं के स्कूल में शिक्षा पाकर देवेन्द्रनाथ जी समय पाकर भारतीय दर्शन के प्रबल प्रचारक होगये और ब्राह्म समाज की स्थापना कर सके। देवेन्द्रनाथ जी ऐसे महापुरुष के सभी पुत्र एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली हुए। इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में सन् १८५४ से भारतीयों को भी शामिल होने की आज्ञा मिल गई थी और इस परीक्षा में सफल होने वाले प्रथम भारतीय रवीन्द्र जी के बड़े भाई थे। श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर उच्च श्रेणी के दार्शनिक तथा लेखक थे। ज्योतीन्द्रनाथ बड़े भारी कलाकार थे। रवीन्द्रनाथ के भतीजे अवनीन्द्रनाथ तथा गगनेन्द्रनाथ भारत की आधुनिक चित्रकला के महान नेता और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति हैं। यह सत्य कहा है कि जब पिता गुणी होता है तो लाख दुर्भाग्य होने पर भी सन्तान प्रतिभाशाली होती ही है। देवेन्द्र जी के परिवार में विद्या तथा लक्ष्मी का अद्भुत मेल रहा है। बंगाल के सब से बड़े जमीदारों में ही यह परिवार प्रमुख नहीं है, बंगाल के सब से बड़े विद्वानों में भी इस खानदान का मुख्य स्थान है। कुलीन ब्राह्मण परिवार है, सभी के विचार बड़े उन्नत हैं। छूआछूत तथा धर्म के बाह्य आडम्बर के विरुद्ध इस परिवार ने १०० वर्ष से आवाज बुलन्द कर रखा है। रवीन्द्रजी तो इस मामले में बहुत आगे बढ़ गये थे। फलतः अब भी बंगाल के बहुत कुलीन तथा पुराने संस्कार वाले ब्राह्मण ही ठाकुर परिवार को नीची दृष्टि से देखते हैं और उनके साथ शादी विवाह करने को तैयार नहीं हैं। किन्तु, समाज सुधारकों को इन बातों की परवाह नहीं होती। आज के पचास वर्ष पूर्व एक मुसलिम भाई के साथ खानपान शुरू करके वे हिन्दू मुसलिम एकता तथा भारत की नवीन विचारधारा को जन्म दे चुके थे।

अस्तु, ६ मई, १८६१ को गदर के ठीक चार वर्ष बाद हमारे चरित्रनायक का जन्म हुआ। बचपन से ही यह स्वतंत्र आत्मा स्कूल के बन्द वातावरण, तथा निर्जीव शिक्षा के विरुद्ध बलवा करने को तैयार थी। वे कई स्कूलों में इधर उधर भेजे गये पर कहीं तबीयत ही नहीं लगती थी। फलतः उनकी स्कूल की शिक्षा समाप्त कर दी गयी। कुछ दिनों तक इंगलैंड के ब्राइटन के स्कूल में भी पढ़ते रहे तथा उसके बाद लंदन के यूनिवर्सिटी कालेज में भर्त्ती हो गये। इस समय इनके एक एक अंग्रेजी लेख की विद्वान् प्रोफ़ेसर ने कक्षा में ही अत्यधिक प्रशंसा की तथा यह कह दिया था कि जो इतना सुन्दर लेख लिख सकता है वह किसी दिन विश्व का सबसे बड़ा लेखक होगा।

रवीन्द्र का बाल जीवन बड़ा रोचक तथा घटनापूर्ण रहा है। बचपन में वे इतने सुन्दर थे कि उनके स्कूल के अध्यापक को यह सन्देह हो गया था कि वास्तव में यह लड़की है और लड़कों के वेष में रहती है। बहुत दिनों के बाद यह सन्देह मिटा। पिता उन्हें बहुत प्यार करते थे। अतएव इनको प्रायः अपनी लम्बी यात्राओं पर साथ लेजाते थे। इस प्रकार बहुत थोड़ी उमर में ही इनको बंगाल के ग्राम्य जीवन से लेकर दूर दूर तक के नगरों का अनुभव प्राप्त होगया था। मस्तिष्क बहुत ही उर्वर था, कल्पनामय था। अतएव नये नये विचार प्रायः उठा करते थे और कभी-कभी तो ईश्वरीय प्रेरणा तक होती थी। विश्व में चारों ओर फैले हुए संकट के बीच आशा की, मानव कल्याण की क्षीण रेखा इनकी आँखों के सामने से दौड़ जाती थी। सन १८७७ में इनकी प्रथम विदेश यात्रा हुई थी और उसी वर्ष वे वहाँ अंग्रेजी स्कूल में भर्ती हुए थे। इंगलैंड से वापस आने पर उनकी प्रतिभा की ख्याति चारों ओर फैल रही थी। पर, इन्हें तो अपनी धुन में ही मस्ती थी। जो जी चाहा, वह

किया। सन् १८८७ में इनकी इच्छा हुई कि संयुक्त प्रान्त के गाजीपुर नामक नगर से पेशावर तक बैलगाड़ी से यात्रा करें पर पिता की आज्ञा हुई कि गंगा तट पर, शिलीदा नामक पारिवारिक जमीदारी में जाकर रहो। रवीन्द्रजी को वहीं जाना पड़ा और यहीं उन्होंने अपने जीवन का सबसे सुखमय समय व्यतीत किया। चार वर्षों तक जमींदारी का काम बड़ी योग्यता से देखते रहने के साथ ही, अध्ययन तथा साहित्य सेवा का कार्य बड़ी तत्परता से जारी रहा। ग्राम के शान्तिमय वातावरण में, गंगा के सुन्दर तट पर, पवित्र प्रकृति की गोद में बैठकर इन्होंने "साधना" मासिक पत्रिका में लेख तथा कविता का जो धारा-प्रवाह कर दिया था, उसने इन्हें एकाएक बंग साहित्य के शिखर पर खड़ा कर दिया।

सन् १८८३ में इनका विवाह मृणालिनी नामक सुशीला तथा सुन्दर कन्या से हुआ था। रवीन्द्र ठाकुर के जीवन को सरस बनाने में इस साध्वी का भी बहुत बड़ा हाथ था और रवीन्द्र के प्रति श्रद्धा प्रगट करते समय मृणालिनी देवी को नहीं भूलना चाहिये।

यद्यपि इनकी सर्वप्रथम रचना सन् १८७७ में ही यानी १६ वर्ष की उम्र में प्रकाशित हुई थी पर प्रथम पुस्तक, जिसमें इनकी कविताओं का संग्रह था, सन् १८६३ में प्रकाशित हुई। लेखक के जीवन में, विशेष कर अमर कलाकार के जीवन में पारिवारिक विपत्तियाँ कितना कम महत्व रखती हैं, इसकी शिक्षा रवीन्द्र बाबू के जीवन से मिलती है। हमारी सम्मति में उनका सबके सुन्दर उपन्यास "गोरा" है जिसमें समाज की समस्या के साथ ही साथ भारतीय दर्शन, आत्मा की अमरता तथा एकता और पूर्व तथा पश्चिम की सभ्यता के सामंजस्य का सबसे सुन्दर विश्लेषण है। यह उपन्यास उस समय लिखा

गया जब इन पर घरेलू परेशानियों का पहाड़ टूट पड़ा था। माध्वी मृणालिनीदेवी का देहान्त नवम्बर, १६०२ में होगया। दूसरी लड़की का क्षयी से १६०४ में देहान्त हुआ। १६०५ में इनके साधु पिता देवेन्द्रनाथजी स्वर्ग चले गये। सन् १६०७ में इनके प्रथम पुत्र की मुँगेर में मृत्यु होगयी। कवि की ये विपत्तियाँ तथा बिछोह की ये मर्मान्तक पीड़ाएं "स्मरण" तथा "खेया" नामक अद्भुत कविताओं में फूट पड़ी हैं।

महापुरुषों की परीक्षा के लिये ही भगवान विपत्तियां लाते हैं। "चित्रा", "चित्रांगदा", "बलिदान" के प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रकार की परीक्षा विचलित नहीं कर सकती थी। इन्हीं दिनों बंगाल में राजनैतिक जागृति जोरों से हो रही थी। बंगालियों की दुर्दशा देश की पराधीनता के साथ ही बंगाल के दो टुकड़े करने का भी सवाल उठ खड़ा हुआ था और लार्ड कर्ज़न (तत्कालीन वाइसराय) इसके दो टुकड़े कर देना चाहते थे। रवीन्द्रजी विश्व-बन्धुत्व के हिमायती थे और जन्म भर रहे। वे संसार को प्रेम के सूत्र में बांधना चाहते थे। अन्त तक वे इसीलिये प्रयत्न करते रहे, प्रचार करते रहे, जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो उन्होंने जो कविता लिखी थी, जापानियों के लिये जो पत्र लिखा था, उससे किसका दिल न दुखा होगा? पूर्व की सभ्यता पर उन्हें घमंड था। पर पश्चिम की सभ्यता से वे बहुत कुछ सीखना चाहते थे। यह सब था पर विश्व-प्रेम की आंधी में वे भारत-प्रेम को भुला नहीं सकते थे। अपनी मातृ-भूमि उनके लिये सबसे बड़ी देवता और मूर्ति, प्रतिमा थी। फिर भी वे राजनीति को अपना प्रधान कार्य नहीं बनाना चाहते थे। राजनैतिक दलबन्दी तथा दलदल से उन्हें सख्त नफ़रत था। पर उनकी क़लम से निकले देशभक्ति के गाने नौजवानों में प्राण फूंक रहे थे। वे नौजवानों को प्राण दान कर रहे थे। पर, एक

और राजनैतिक दुरवस्था थी और दूसरी ओर देश की धार्मिक दुर्दशा भी। लोग अजीब अज्ञान में पड़कर आत्मा तथा परमात्मा को भूल बैठे थे। रवीन्द्र ने अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को सन् १६०१ में ही "नैवेद्य" में प्रदर्शित कर दिया था। "गीतांजलि" तो ऐसा रहस्यमय ग्रंथ है कि बड़े विद्वान् भी उसका अर्थ नहीं लगा सकते। राजनैतिक दलबन्दी, देश की दुर्वस्था तथा धर्म की छीछालेदर से उदासीन होकर श्री रवीन्द्रनाथ टागोर चार वर्ष तक शान्ति-निकेतन में रहे। यह स्थान बोलपुर में है। इनके पिता ने अपनी साधना, तपस्या के लिये यहां कुटी बना रखी थी तथा यहीं पर भारतीय बालिकायें तथा बालकों को प्राचीन आर्यपद्धति के अनुसार, (बन्द कमरों में दकियानूसी पाठ्यक्रम के अनुसार नहीं) शिक्षा दी जाती थी। रवीन्द्रजी यहां बच्चों को पढ़ाया भी करते थे। आज यह स्थान तथा यह संस्था संसार के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में से है तथा विश्व के बड़े-बड़े विद्वान् यहां प्रवास करते हैं। इसे "विश्वभारती" कहते हैं। महात्मा गांधी भी यहां रह आए हैं। इस स्थान के वातावरण में अद्भुत शान्ति तथा सुखका सभी अनुभव करते हैं। शान्तिनिकेतन के आचार्य पद पर वर्षों तक प्रसिद्ध अंग्रेज साधु एन्ड्रूज थे और इस मृतात्मा की यादगार वहां अब भी विद्यमान है। शान्ति-निकेतन विश्वविद्यालय भारत में स्वतंत्र रीति से उच्चतम शिक्षा दिलाने वाली संस्थाओं में से एक है। ऐसी ही एक संस्था श्री काशी विद्यापीठ है, जिसे एक महान् पुरुष, दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्त स्थापित कर गये हैं। विद्यापीठ के आचार्य-पद को डा० भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री सम्पूर्णानन्दजी ऐसे उद्भट विद्वान सुशोभित कर चुके हैं।

सन् १६११ में रवीन्द्रजी का ५० वर्ष पूरा हुआ और इतनी उमर में इतने आदर के साथ शायद ही किसी की जयन्ती मनाई

गयी हो। बंगाल भर में रवीन्द्र जयन्ती मनायी गयी। १६१२ में वे लन्दन पहुँचे और इस अवसर पर वहाँ के धुरन्धर पंडितों तथा कवियों से इनका निजी परिचय हुआ। सन् १६१२ में वे अमेरिका होते हुए शान्तिनिकेतन वापस आगये थे। इसी वर्ष विश्व में तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ साहित्य लेखक होने के कारण इनको प्रसिद्ध "नोबल प्राइज" मिला। इस इनाम में नक़द एक लाख रुपया मिलता है। रवीन्द्र ने इस धन को शान्तिनिकेतन को दे दिया। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इन्हें "डा० आव लिटरेचर" की उपाधि से आदरित किया। सन् १६१४ में ब्रिटिश सरकार ने इनको "सर" की उपाधि दी। इसी वर्ष ग्राम सुधार का कार्य करने के लिये इन्होंने "श्रीनिकेतन" की स्थापना की। १६१६ में उन्होंने जापान में "राष्ट्रवाद" पर तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में "व्यक्तित्व" पर व्याख्यान दिया था। सन् १६२०-३० के बीच इनको कम से कम सात बार यूरोप यात्रा करनी पड़ी और वह भी केवल विशिष्ट विषयों पर व्याख्यान देने के लिये। सन १६३० में वे रूस भी गये थे।

महात्मा गांधी से रवीन्द्र बाबू की पहली भेंट सन् १६१५ में हुई। दक्षिण अफ्रिका से लौटकर गांधीजी जब भारत आये तो शान्तिनिकेतन भी पधारे थे। यद्यपि उनमें तथा कवि में गहरा राजनैतिक मतभेद था तथा असहयोग ऐसा वस्तु कवि को बिलकुल ही नापसंद थी, पर दोनों महापुरुष में इतना मेल था कि गांधीजी को रवीन्द्र का आशीर्वाद सदैव प्राप्त था। द्वितीय महायुद्ध से शायद ही कोई इतना दुःखी हुआ हो, जितना यह मानवता का पुजारी रवीन्द्र। वे बड़े दुखी होकर संसार को सन्मार्ग पर लाने की सीख देना चाहते थे पर बुढ़ापे के शरीर में इतनी शक्ति न थी कि लम्बी यात्रा कर सब को अपना विचार सुनाया जावे। उस समय उनकी जो विज्ञप्ति छपी थी, उसका

एक एक शब्द मूल्यवान है। सरकारी नीति के विरोध में कविवर रवीन्द्र ने अपना "सर" का खिताब वापस कर दिया था। महाकवि का यह अंतिम महान कार्य था। सन् १९४१ में इनकी मृत्यु हुई।

इस महान् आत्मा ने मोक्ष प्राप्त किया। देश बिलख उठा। सभ्यता का सहारा लुट गया पर जब तक कवि की अमर वाणी हमारे बीच में है, हम सन्मार्ग से नहीं डिग सकते।

डा० सर आशुतोष मुकर्जी

जून, १८६४ में, कलकत्ता के एक शिक्षित परिवार में आशुतोष मुकर्जी का जन्म हुआ था। इनके पिता अपने समय में, बंगाल में बी० ए० की शिक्षा और डिग्री प्राप्त करने वाले इने गिने पुरुषों में से थे तथा समाज-सेवा के प्रति उनकी बड़ी रुचि थी। युवकों के स्वास्थ्य, सुधार तथा महिलाओं में जागृति और उनके लिये उपयोगी सामाजिक कार्य के सम्बन्ध में उन्होंने पुस्तकें भी लिखी थीं। ऐसे विचारवान पिता की छाया आशुतोष को २५ वर्ष तक प्राप्त रही। सन् १८८६ में इनके पिता का देहान्त हुआ। पर मातृ सुख बहुत दिनों तक रहा। माता का देहान्त सन् १६१४ में हुआ था। उस आदर्श महिला ने अपने पुत्र के चरित्र-निर्माण में बड़ा भाग लिया था और उनके नियंत्रण के कारण ही आशुतोष विख्यात पुरुष हो सके।

आशुतोष बड़ी प्रखर बुद्धि के विद्यार्थी थे। इनकी कुशाग्र बुद्धि का सभी सहपाठी लोहा मानते थे। गणित में इनकी विशेष रुचि थी इसीलिए कालेज की पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंने गणित में अनुसन्धान कार्य करना चाहा। पर, उस समय ऐसी सहूलियतें कहाँ प्राप्त थीं। अन्त में, जीविका के लिये उनको वकालत का पेशा ग्रहण करना पड़ा। पर तेज-दिमाग़ वाले के लिये हरेक काम आसान होता है। ३० वर्ष की उम्र होते होते वे "डाक्टर आव लॉ" हो गये। दस वर्ष बाद कलकत्ता हाईकोर्ट के जज होगये।

किन्तु, पैसा कमाने या सरकारी पद पर बैठने की उनकी महत्वाकांक्षा कभी न थी। सीधे सादे चाल के आदमी थे। विद्या का व्यसन इतना था कि बचपन से ही पुस्तकें पढ़ने और संकलन करने की जो आदत पड़ी तो अन्त तक बनी रही। अतएव उनका निजी पुस्तकालय भारत के बहुत अच्छे पुस्तकालयों की श्रेणी में गिना जाता है। उनके जीवन का मूलमंत्र था शिक्षा प्रचार और भारत को अत्यंत शिक्षित देश बना देना। वे जानते थे कि ऐसा करने के लिये देश को बड़ी बाधाओं का मुकाबिला करना पड़ेगा पर स्वयं वे एक आदर्श उपस्थित कर यह दिखला देना चाहते थे कि हर सूबे में अनवरत परिश्रम करने से क्या नहीं हो सकता।

जिस कालेज में उन्होंने शिक्षा पायी थी, उसे ही केन्द्र बनाकर उसके द्वारा शिक्षा सेवा का मंत्र जगाने का उन्होंने संकल्प लिया था और उन्हीं के तीस वर्ष के अथक परिश्रम का ही यह परिणाम था कि कलकत्ता विश्वविद्यालय एक साधारण परीक्षक संस्था से एशिया के सबसे बड़े विश्वविद्यालयों में स्थान प्राप्त कर सका। जब उनकी उम्र २४ वर्ष की थी, तभी वे विश्वविद्यालय के 'फेलो' बना लिए गये थे। कुछ ही दिनों बाद

वे उसकी प्रबन्ध समिति के भी सदस्य चुन लिये गये। इस प्रकार १८८९ से उनका विश्वविद्यालय से संबंध स्थापित हुआ और मरने के समय यानी १९२४ तक यह संबन्ध बना रहा। पर यह केवल संबन्ध ही नहीं था, एक महान् आत्मा का प्राणमय सहयोग था। सन् १९०६ में मुकर्जी इस संस्था के वाइस-चांसलर चुने गये। और इस पद पर सन् १९१४ तक बराबर बने रहे। इसके बाद पुनः १९२१ में इन्होंने इसकी बागडोर अपने हाथ में सम्हाली और १९२३ तक काम देखते रहे। अपना तन-मन-धन इन्होंने इसकी सेवा में इस तरह उत्सर्ग कर दिया था कि तत्कालीन बंगाल गवर्नर ने इनके विषय में लिखा था—"कलकत्ता विश्वविद्यालय ही आशुतोष है और आशुतोष ही कलकत्ता विश्वविद्यालय है।"

आशुतोष ने इस संस्था को सम्पूर्ण करने के लिये कितना परिश्रम व प्रयत्न किया, यह इस छोटे से निबन्ध में नहीं लिखा जा सकता। गणित, विज्ञान, साहित्य, व्यवसाय, इतिहास, धर्म, चिकित्सा हरेक विषय पर न केवल विशिष्ट शिक्षा का ही प्रबन्ध किया गया बल्कि हरेक विषय के विशेषज्ञ बुलाकर रखे गये। नयी-नयी प्रयोगशालायें खुलीं। आशुतोष समूचे भारत पर अपनी गिद्ध-दृष्टि लगाये रहते और जहाँ कोई विद्वान् मिलता उसे कलकत्ता बुला लेते। विद्यार्थियों से उनको बड़ी सहानुभूति रहती थी। हरेक विद्यार्थी के दुःख दर्द में शरीक होते। जब कभी कोई विद्यार्थी संकट में होता, उनके पास सलाह के लिये आने का मार्ग खुला रहता। प्रायः हरेक डिग्रीशुदा विद्यार्थी का नाम तक उन्हें याद रहता। यही नहीं, यह भी फिक्र रहती कि हमारे विद्यार्थी कहाँ जाकर किस प्रकार प्रगति कर रहे हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बंगाल का बहुत बड़ा उपकार यह किया कि बंग भाषा को पाठ्यक्रम बना दिया और उसके अध्ययन

का विशेष प्रबन्ध तक किया गया। यदि काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय उसका चतुर्थांश भी हिन्दी के लिये करता तो हिन्दी की बड़ी सेवा होती।

आशुतोष की शिक्षा-सेवा से प्रसन्न होकर सरकार ने उन्हें "सर" की उपाधि दी थी पर वास्तव में ऐसी उपाधियों से कहीं अधिक आदर वे भारत में प्राप्त कर चुके। कलकत्ता विश्व-विद्यालय के आदर्श से भारत के हरेक विद्यालय अनुप्राणित हो उठे और उनमें एक अद्भुत जागृति आगयी।

"सर" आशुतोष केवल शिक्षा क्षेत्र में ही आगे नहीं बढ़े थे। वे कलकत्ता कारपोरेशन के सदस्य रह चुके थे, बंगाल की लेजिस्लेटिव कौंसिल तथा वाइसराय की इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य की हैसियत से वे काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। किन्तु, यह सब ख्याति उनकी एक ख्याति के सामने फीकी थी और वह थी सीधीसादी चाल तथा धुन के साथ सरस्वती के मंदिर की सेवा। उठते बैठते, सदैव कलकत्ता विश्वविद्यालय इनके सामने रहता था, भारत के विद्वानों की सूची इनके हाथ में रहती थी और ऐसे लोगों की टोह में निगाह दौड़ा करती थी जो विद्वान हों तथा विश्वविद्यालय के लिये नहीं तो भारत के लिये विद्याप्रचार का संकल्प लेने के लिये तैयार हों। यदि इनकी मृत्यु ६० वर्ष की उम्र में ही न हो जाती तो वे भारत को और बहुत कुछ दे गये होते।



सर जगदीशचन्द्र बोस

भारत की विभूतियों की गणना में बंगाल ने इतना अधिक योग दान किया है कि यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हमारे देश के लिये यह प्रान्त बड़े गौरव की वस्तु है। इस देश की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने हमें पूर्णतः प्रभावित किया है। केवल साहित्य या राजनीति में ही नहीं, विज्ञान के क्षेत्र में भी इसका बड़ा हाथ है। ऐसे वैज्ञानिक महारथियों में सर जगदीशचन्द्र बोस तथा सर प्रफुल्लचन्द्र राय का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। सर प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म सन् १८६१ में हुआ था और इनकी मृत्यु अभी की सी ही घटना है। इस बालब्रह्मचारी विद्वान् ने अपना सर्वस्व विज्ञान के लिये निछावर कर दिया तथा रसायन शास्त्र में वे हमारे देश के सबसे बड़े पण्डित थे। महात्मा गांधी के खद्दर के सिद्धान्त के वे बड़े भारी भक्त थे

और कलकत्ते का खादी प्रतिष्ठान इन्हीं की प्रेरणा का फल है। एक कुलीन बंगाली कायस्थ घर में इनका जन्म हुआ था। बचपन में शिक्षा ग्राम में ही हुई थी। अन्त में उन्होंने सन् १८८८ में एडिनबर्ग के विश्वविद्यालय से "डा० आव साइन्स" की डिग्री प्राप्त की थी तथा सन् १९१६ में वे सरकारी नौकरी से रिटायर हुए थे। 'सर' की उपाधि उन्हें युद्ध समाप्त होने पर मिली थी। रसायन सम्बन्धी इनकी खोजों ने दुनिया को चकित कर दिया था।

इनसे भी अधिक ख्याति सर जगदीशचन्द्र बोस को हुई। यह एक मार्के की बात है कि भारतीय वैज्ञानिकों ने यूरोपीय या अमेरिकन वैज्ञानिकों की तरह अपना ध्यान तथा श्रम कभी भी संसार के संहार के विषय की खोजों में नहीं लगाया। वे सदैव लोक कल्याण की चीजों की ओर झुके। हमारे वैज्ञानिक केवल कोरे वैज्ञानिक ही नहीं रहे। वे दार्शनिक तथा समाज सेवक भी थे। सर पी० सी० रे या राय ने बंगाल की बड़ी सामाजिक सेवा की है। उनका स्थापित बंगाल केमिकल वर्क्स आज लाखों को रोजी दे रहा है तथा हमारा करोड़ों रुपया विदेशी दवा में व्यय होने से रोक रहा है। अब तो औषधि निर्माण के लिये हमारे यहाँ कई कारखाने खुल गये हैं।

सर जगदीश कोरे वैज्ञानिक ही नहीं रहे। वे बड़े समाज सेवक व्यक्ति थे। गरीब विद्यार्थियों की सेवा तथा सहायता के अतिरिक्त वे साहित्य तथा कला के प्रचार में भी भाग लेते थे। कवीन्द्र रवीन्द्र के कलाकार बन्धु श्री गगनेन्द्र तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को इनके द्वारा बड़ा प्रोत्साहन मिला था। भारतीय दर्शनशास्त्र में इन्हें बड़ी रुचि था तथा आत्मा और जीवात्मा के सिद्धान्त में इनका विश्वास था। भारतीय दर्शन शास्त्र प्रकृतिमात्र में, जड़ से जड़ पदार्थ में भी चेतनता तथा जीव का सिद्धान्त

मानता है। पेड़ पत्त में भी वह चेतनता स्वीकार करता है तथा उसके अनुसार सुख दुःख का अनुभव लता पत्तियों को भी होता है। हमारे दर्शन शास्त्र के इस कथन पर विदेशी हँसा करते थे और खिल्ली उड़ाया करते थे पर इसकी सत्यता और महत्ता को प्रमाणित कर सर जगदीश ने संसार को आश्चर्य चकित कर दिया। पौधों के विषय में उनकी खोज उनके जीवन का सबसे बड़ा काम है और इन खोजों ने विज्ञान-जगत् की विचार धारा ही बदल दी। जब यह प्रमाणित हो गया वृक्षों में भी चेतनता तथा सुख दुःख की भावना है तो मानवजाति का दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो जाता है।

जगदीश बाबू के वैज्ञानिक खोजों के विषय में हम यहाँ कुछ न लिख सकेंगे क्योंकि हम विज्ञान के विद्यार्थी नहीं हैं। हमें तो जो मोटी मोटी बातें मालूम हैं वह यही हैं कि इनकी खोजों पर यूरोपियन पहले मुस्कराकर उपेक्षा कर दिया करते थे। भारत सरकार से भी शुरू में इनको कोई सहायता नहीं मिली। धीरे धीरे इनकी प्रतिभा की धाक जमने लगी और अन्त में संसार को इनका लोहा स्वीकार ही करना पड़ा।

३० नवम्बर १८५८ को एक कुलीन कायस्थ परिवार में, बंगाल के विक्रमपुर जिले के रारीखाल ग्राम में जगदीश जी का जन्म हुआ था। इनके पिता भगवानचन्द्र डिप्टी कलेक्टर थे। उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। बालक भी तेज और होनहार था। अतएव यह निश्चय हुआ कि उनको विज्ञान की उच्च शिक्षा दिलाने के लिये विलायत भेजा जावे। बोस की इच्छा थी कि विलायत में डाक्टरी पढ़ी जावे पर आसाम में इनको मलेरिया ने पकड़ लिया था अतः निरन्तर ज्वर आने से वे काफ़ी कमजोर हो गये थे। अन्त में इन्होंने प्रकृति विज्ञान के ही अध्ययन का निश्चय किया। माता ने

अपने जेवर बेच कर इनको विलायत जाने के लिये मार्ग-व्यय दिया। वहाँ से परीक्षा पास कर भारत आने पर सन् १८८४ में कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज में इनको प्रोफेसर का पद मिल गया। पर, भारतीय होने के कारण इनको इस स्थान के लिये निश्चित वेतन से कहीं कम दिया गया। तीन वर्ष तक वे बराबर अपना वेतन लेना अस्वीकार करते रहे। वेतन न लेने के कारण इनको बड़ी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। सन् १८८७ में विवाह भी कर लिया था। पति पत्नी का खर्च चलाना कठिन हो रहा था। किन्तु, इन मुसीबतों के समय में भी उनका अध्ययन जारी रहा। वे नयी नयी खोज करते रहते थे। फ़ोटोग्राफी का बड़ा शौक था। नवम्बर, १८९३ में अपनी ३५ वीं वर्षगाँठ के अवसर पर इन्होंने विज्ञान में नवीन खोज का संकल्प लिया और विद्युत् लहरों के तत्वों की खोज करने लगे।

इनकी खोजों के विषय में कुछ लिखना निरर्थक है। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सन् १९०० में इन्होंने अपनी पहली खोज की और उसे संसार के सामने रखा। इसी वर्ष पेरिस में विज्ञान परिषद् में वे सम्मिलित हुए थे। तरह तरह के यन्त्र भी इन्होंने बना डाले और एक के बाद दूसरा वैज्ञानिक सिद्धान्त संसार के सामने रखते गये। सन् १९११ में पौधों में चेतना सम्बन्धी खोज का अद्भुत् प्रकाश जनता के सम्मुख आया।

सन् १९१५ में वे अपने प्रोफेसर के पद से 'रिटायर' कर गये पर उनके अवकाश ग्रहण करने के पहले ही यह पता चला कि किसी भूल के कारण उनको शिक्षा विभाग का वह सर्वोच्च पद न मिल सका जो उन्हें मिलना चाहिये था। फलतः उनको वह सर्वोच्च पद दिया गया तथा वाजिब समय से लेकर तब तक का वेतन दिया गया।

इस रुपये से, जनता से प्राप्त कुछ दान से तथा सरकार से थोड़ी सहायता प्राप्त कर सर जगदीशचन्द्र बोस ने कलकत्ता में एक प्रयोगशाला खोली जहाँ वैज्ञानिक अनुसन्धान किये जा सकें। आज यह प्रयोगशाला संसार की प्रसिद्ध प्रयोगशालाओं में से है। इस प्रयोगशाला में प्रकृति-विज्ञान सम्बन्धी खोज लगातार जारी है और स्वयं सर जगदीश सन् १९३१ तक यहाँ काम करते रहे।

इन्होंने कई बार विदेश यात्रा की तथा अपने व्याख्यानों से संसार की विद्वन्मण्डली को चकित करते रहे। अभी उनकी मृत्यु को सात वर्ष ही हुए हैं पर उनकी संस्था, उनकी खोज तथा उनका यश अमर है।



सर चन्द्रशेखर वेंकटरमण

सर चन्द्रशेखर वेंकटरमण का जन्म ७ नवम्बर, १८८८ को हुआ था। इनके पिता बड़े विद्या प्रेमी व्यक्ति थे और उन्होंने बी० एस-सी० पास करने के बाद अध्यापक का कार्य शुरू कर दिया था। बाद में वे विजगापट्टम में अपने मित्र श्री पी० टी० श्रीनिवास अय्यंगर के पास चले गये थे। अय्यंगर वहाँ के हिन्दू कालेज के प्रिंसपल थे। मि० रमण वहाँ विज्ञान शास्त्र के प्रोफेसर होगये।

इस प्रकार, कालेज के वातावरण में ही वेंकट का बाल्य-काल बीता। बचपन से ही इनकी विद्याप्रियता तथा बहुत जल्दी अपना पाठ समझ लेने की क्षमता से इनके अध्यापक बड़े प्रभावित हुये थे। इनकी समुचित शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। विज्ञान के प्रति इनकी विशेष रुचि स्पष्ट हो चली थी और वे

मद्रास के प्रेसिडेन्सी कालेज में पढ़ने के लिये भेजे गये। यहाँ पर कुछ ही दिनों में सभी प्रोफेसर इनकी प्रतिभा से प्रभावित हो गये। सभी इनको विशेष प्रेम से पढ़ाने लगे। बी० एस-सी० की परीक्षा में ये सर्व प्रथम ही नहीं, प्रथम श्रेणी में पास एकमात्र विद्यार्थी निकले।

पर, उन दिनों हमारे देश में विज्ञान की क़द्र न थी। शिक्षा का उद्देश्य अच्छी नौकरी मिलना था। इसीलिये वेंकटरमण ने एम० ए० में विज्ञान छोड़कर, अर्थशास्त्र लिया और एकदम नया विषय लेने पर भी परीक्षा में सर्वप्रथम आये। इन्हें तुरत सरकार के फाइनेन्स अर्थात् अर्थ विभाग में जगह मिल गई और नौकरी के सिलसिले में कभी कलकत्ता कभी रंगून, कभी नागपुर रहना पड़ता था। इस विभाग में भी इनकी धाक जम गयी। सभी अफसर बड़े खुश थे, यहाँ तक कि केन्द्रीय सरकार ने इनको इम्पीरियल सेक्रेटेरियट में रखना चाहा, पर इन्हें यह स्वीकार न था। इसका कारण था।

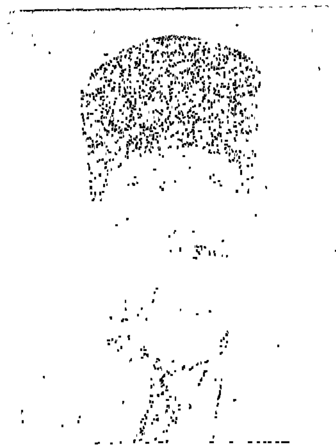
और यह कारण था विज्ञान का प्रेम। सरकारी नौकरी करते हुये भी वे सुबह-शाम समय निकाल कर वैज्ञानिक खोज किया करते थे। अपने घर में ही एक प्रयोगशाला बना रखी थी। अपनी खोजों को विदेशी पत्रों में छपवाने भी लगे थे जिससे इनका नाम चारों ओर फैलने लगा था। कलकत्ता में विज्ञान के प्रचारार्थ एक संस्था थी जिसका नाम था "असोसियेशन फार दि कल्टिवेशन आवसाइन्स।" इसकी प्रयोगशाला में सुबह शाम प्रयोग करने की अनुमति इनको मिल गई थी। फिर क्या था, इनको दोनों हाथ लड्डू मिल गये। इसी लालच से वे अधिक वेतन मिलने पर भी दिल्ली नहीं गये।

इन दिनों सर आशुतोष का जमाना था भला ऐसा विद्वान् उनकी निगाहों से कहाँ चूक सकता था। सन् १९१४ में एक

दानवीर की कृपा से कलकत्ता विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग खुला। रमण से अनुरोध किया गया। उन्होंने सरकारी नौकरी तथा मोटी तनख्वाह पर लात मार कर यह काम सम्भाल लिया। उन्हें वैज्ञानिक धुन थी। रुपया पैसा क्या चीज होती है। सर आशुतोष ने उनके इस त्याग की बड़ी सराहना की थी।

बस, इसी समय से वेंकटेरमण का क्रमागत विकास प्रारम्भ होता है। लगातार परिश्रम तथा खोज करके उन्होंने प्रकाश तथा रंग, रंग में प्रकाश, जल का रंग इत्यादि विषयों पर जो अद्भुत अनुसंधान प्रकाशित किया उसने संसार के वैज्ञानिक समुदाय में उथल पुथल मचा दी। यह खोज सन् १६२८ में पूरी हुई थी और इसने संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों की श्रेणी में सर सी० वी० रमण को खड़ा कर दिया। सन् १६१६ में उनको सर की उपाधि मिली। विज्ञान में अपने समय में सबसे महत्वपूर्ण खोज करने के कारण उनको सन् १६३० में नोबुल प्राइज मिला सन् १६२२ में पेरिस विश्वविद्यालय ने उनको डाक्टर की उपाधि दी था। सन् १९३७ में वे पुनः पेरिस गए। अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये।

सर सी० वी० रमण के खोजों की संख्या ६०० से ऊपर ही होगी। इतनी सख्या में नये विषयों पर इन्होंने निबन्ध तैयार किये हैं। इनकी खोज लगातार जारी है। इनका शिष्य समुदाय बड़ी श्रद्धा पूर्वक इनके पथ का अनुसरण कर रहा है। रमण का उद्देश्य है भारत को विज्ञान के सर्वोच्च सिंहासन पर बिठाना और वे उसी दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं। वे विज्ञान के पुजारी हैं और भगवान करे ऐसे पुजारी द्वारा भारत का अधिक से अधिक कल्याण हो।



डा० सर मुहम्मद इक़बाल

लाहौर की शाही मस्जिद के पास एक ऐसी क़ब्र है जहाँ जाकर हरेक को सर झुकाना चाहिए। इस क़ब्र में एक भारत का रत्न सो रहा है। डा० रवीन्द्रनाथ टागोर के बाद यदि भारतीय वर्तमान कालीन कवियों तथा कलाकारों में किसी का नाम सबसे अधिक देश विदेश में फैला तो वह डा० सर मुहम्मद इक़बाल का। उनके नाम के आगे 'सर' देखकर यह न सोचना चाहिये कि सरकार के हिमायती या "जी-हुजूरों" में होने के कारण उनको खिताब मिला था जिस प्रकार कविवर रवीन्द्रनाथ को केवल उनकी प्रतिभा के कारण, उनकी विद्या के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये "सर" की उपाधि से सरकार ने विभूषित कर अपने को ही आदरित किया था, उसी प्रकार जब एक यूरोपियन यात्री ने तत्कालीन पंजाब के

गवर्नर से कहा कि तुम्हारे देश में इतना क़ाबिल आदमी रहता है जिसकी कविताओं का विदेशों में इतना आदर है, पर तुम्हारी सरकार ने उसका आदर तक न किया, तब गवर्नर ने भारत सरकार से कहकर, इक़बाल की विद्या के प्रति आदर प्रकट करने के लिये उन्हें "सर" की उपाधि दी। डा० की उपाधि उन्हें जर्मनी के म्यूनिख विश्वविद्यालय से "फ़ारसी में रहस्यवाद" पर खोज पूर्ण ग्रंथ लिखने के लिए मिली थी।

इक़बाल टागोर से मिल चुके थे। दोनों एक दूसरे का बड़ा आदर करते थे। यद्यपि इक़बाल में टागोर के समान सर्वतोमुखी प्रतिभा न थी, वे उनकी तरह कुशल उपन्यासकार तथा गद्य के प्रणेता भी न थे, फिर भी उनकी अंग्रेजी लेखनी भी बहुत ही मँजी हुई और प्रतिभामय थी। मद्रास में उनके व्याख्यानों का जो संग्रह "रिकांस्ट्रकशन आव थॉट इन इसलाम" (इसलाम धर्म में विचारों का पुनर्निर्माण) प्रकाशित हुआ है, उसी से उनकी अंग्रेजी लियाक़त का पूरा अन्दाज़ मिल जाता है।

इक़बाल और टागोर दोनों ही मानवता के पुजारी थे, समकालीन थे। एक नये भारतीय युग के प्रणेता थे। टागोर विश्वकल्याण के लिये शान्ति तथा संतोष के मार्ग से बढ़ना चाहते थे, इक़बाल को संघर्ष तथा सतत प्रयत्न का उपदेश देना था। देशभक्त दोनों ही थे। यद्यपि इसलाम-प्रेम कुछ अधिक होने के कारण और आगे चलकर थोड़ी सम्प्रदायिकता आ जाने के कारण इक़बाल मुसलिम समाज पर अधिक प्रभाव जमा सके और अखिल भारतीय समाज के लिये उतने लोकप्रिय न रहे, पर यह सोचना भूल होगी कि वे भारत के प्रति उदासीन थे। भारतीय देशभक्ति के उनके तराने, उनकी ग़ज़लें आज भी हरेक दिल पर चोट करती हैं। वह हमें

जगाने के लिए जो चुटीली चीजें कह गए हैं वह हमें तबतक चैन न लेने देगी जब तक हम अपने लक्ष्य तक न पहुंच जावें। इक़बाल भी राजनैतिक क्षेत्र में क्रियात्म भाग लेने से वैसे ही घबड़ाते थे जैसे रवीन्द्र। पर, इनको तीन वर्ष तक पंजाब कौंसिल का मेम्बर रहना पड़ा, मुसलिम लीग के उस वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष होना पड़ा जिसमें पहली बार पाकिस्तान तथा भारत के बँटवारे का सवाल उठाया गया था। सन् १६३१ में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में इनको मुसलिम हितों की रक्षा के लिये प्रतिनिधि बनकर भी जाना पड़ा था।

पर, इक़बाल पहले कवि थे, देश भक्त थे, कल्पना जगत के द्रष्टा थे, फिर और कुछ। मार्क्स के साम्यवाद ने इनको प्रभावित किया था और वे पूँजीवादी सभ्यता के विरोधी थे। इसके साथ ही वे अंधा प्रजातंत्रवाद भी नहीं चाहते थे। यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से वे अरबी और फ़ारसी के ही सबसे बड़े विद्वान थे पर उनके विचार बड़े उन्नत और सुधार के पक्षपाती थे। वे शुरू से लेकर अन्त तक कवि थे। इनके विचार बड़े सुन्दर थे, लेखनी में जादू और तेज था।

बहुत खीझ कर आप लिखते हैं:

लेकिन मुझे पैदा किया इस देश में तूने।
जिस देश के बन्दे हैं, गुलामी पे रजामन्द॥

एक स्थान पर आपने लिखा है:

न समझोगे तो मिट जावोगे ऐ हिन्दोस्ताँ वालो।
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में॥

नौजवानों को कमर कसकर काम करने की नसीहत देते हुए शायर लिखता है:—

अमल से जिन्दगी बनती है, जन्नत भी जहन्नुम भी।
ये ख़ाका अपनी फ़ितरत में न नूरी है न नारी है॥

और देखिये—

खुदी को कर बलन्द इतना कि हर तक़दीर से पहले।
खुदा बन्दे से यह पूछे बता तेरी रज़ा क्या है॥

फिर देखिये—

उठा न शीशा ये गिरा फरंग के एहसाँ।
सफ़ाले हिन्द से मीना व जाम पैदाकर॥

कितना ज़ोरदार शेर है:

जिस खेत से दहक़ाँ को मयस्सर नहीं रोजी।
उस खेत के हर खोशाये गन्दुम को जला दो॥

ग़रीबी की तारीफ़ में लिखा है:

मेरा तरीक़ अमीरी नहीं फ़क़ीरी है।
खुदी न बेच, ग़रीबी में नाम पैदाकर॥

इक़बाल साहब की ऊँचे दर्जे की शायरी के कुछ और नमूने देखिये।

तेरी जिन्दगी इसी से, तेरी आबरू इसी से।
जो रही खुदी तो शाही, न रही तो रुसियाही॥
खुदी की मौत से हिन्दी शिकस्त बालों पर।
क़फ़स हुआ है हलाल और आशियाना हराम॥

तू शाही है, परवाज है काम मेरा,
तेरे सामने आसमां और भी हैं।
सुल्तानिये जमहूर का आता है ज़माना,
जो नक्शे कुहन तुमको नज़र आये मिटा दो।

अस्तु, यह तो ऊपर की पंक्तियों से पाठकों को प्रकट हो जावेगा कि इक़बाल की शायरी में फ़ारसी के शब्द भी काफ़ी आ जाते हैं और इसी कारण उर्दू के घर संयुक्तप्रान्त में उनकी कविता के विरोधी भी थे। उनकी कविता के प्रति एक आक्षेप यह भी था कि उसमें पंजाबी का भी पुट है। पर जहाँ तक

फ़ारसी की छाप का सवाल है, उस विषय में महाकवि ग़ालिब भी इसी दोष के पात्र थे। इक़बाल ने अपनी कविताएँ पहले महाकवि दाग़ के पास "इसलाह" (संसोधन) के लिये भेजा थीं। दाग़ उस समय निज़ाम-हैदराबाद के दरबार में बहुत सम्मानित हो रहे थे। कुछ शायरी देखने के बाद दाग़ ने उनको लिख दिया था कि उनमें कोई दोष नहीं है और वे इतनी अच्छी हैं कि इसलाह की जरूरत ही नहीं है। लाहौर के मुशायरे में इन्होंने जो पहली ग़ज़ल पढ़ी थी, वह इतनी अच्छी थी कि सभी एकत्रित विद्वान् यह मान गये थे कि आगे चलकर इक़बाल महाकवि होगा। वह पंक्तियाँ थीं—

मोती समझ के शाने करीमी ने चुन लिये,
क़तरे मेरे गिरे जो अर्क़े इन्फ़आल के।

इक़बाल ने उर्दू शायरी से शुरू किया और बीच में केवल फ़ारसी में ही लिखने लगे थे। इनकी कविताओं का अंग्रेजी, जर्मन, इटालियन तथा रूसी भाषा तक में अनुवाद हुआ है।

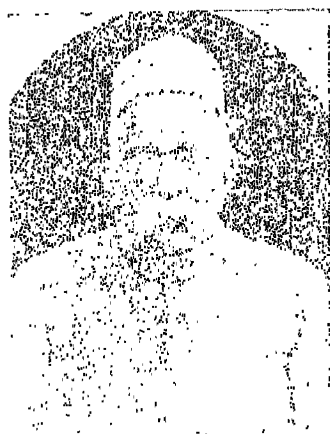
इस महापुरुष का जन्म पंजाब और जम्मू की सरहद पर, स्यालकोट नामक नगर में, २२ फ़रवरी, सन् १८७३ को हुआ था। इनके पिता बड़े विद्या व्यसनी थे। इनके पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे। जो मुसलमान हो गये थे। १८९५ में इक़बाल गवर्नमेण्ट कालिज, लाहौर में भर्ती हो गये। यहाँ से उन्होंने बी०ए० और एम०ए० पास किया। इसके बाद ही लाहौर के ओरियेन्टल कालेज में अध्यापक हो गये। कुछ वर्ष बाद वहीं गवर्नमेण्ट कालिज में ही दर्शन शास्त्र के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। सन् १९०५ में इन्होंने इंगलैण्ड की यात्रा की और वहीं दर्शनशास्त्र में 'डाक्टर' की डिग्री ली। वकालत के पेशे का धुन सवार हुई तो सन् १९०८ में बैरिस्टरी पास की और भारत

आकर वकालत करने लगे। पर साहित्य, दर्शन और वकालत का साथ न निभ सका और आखिर वकालत छोड़नी पड़ी।

शायरी का शौक़ बचपन से ही था और सन् १६०५ तक काफी कविता कर चुके थे। उनकी रचनाओं का प्रथम संग्रह सन् १६२४ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के कई संस्करण छप चुके हैं।

दर्शन तथा काव्य के क्षेत्र में अद्भुत यश प्राप्त कर इस महापुरुष ने ६ अप्रैल, १६३८ को संसार से कूच किया। जब तक भारतीय बच्चों के कण्ठ में ये पंक्तियाँ रहेंगी, तब तक इक़बाल अमर हैं:—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हिन्दी हैं, हम वतन हैं, हिन्दोस्ताँ हमारा।



आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

राजा राममोहनराय, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा रमेशदत्त ने मिलकर बंगला साहित्य के निर्माण के लिये जो कार्य किया था उससे अधिक कार्य इकेले एक व्यक्ति, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हमारी मातृभाषा तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिये किया। उन्हें न तो सरकार से कोई आदर प्राप्त हो सका, न कोई उपाधि। मरते दम तक पैसा भी इतना ही हो सका कि दोनों वक्त पेटका काम चल जाये। साथी मित्रों में कोई ऐसा बड़ा आदमी भी न मिला जो उनके नाम को चारों ओर फैलाने में मदद दें। पर, केवल अपने दम से. अपने बूते से उन्होंने हिन्दी-साहित्य के सृजन के लिये, उसकी बनावट तथा भाषा और भाव को एक अच्छे मार्ग पर लाने के लिये जो परिश्रम किया वह अद्‌भुत है और उनके इसी परिश्रम तथा अनवरत

सेवा के प्रति आदर करने के लिये समस्त हिन्दी-जगत ने उन्हें आचार्य की उपाधि से विभूषित किया था और हमारी समझ में यह उपाधि सभी खिताबों से मूल्यवान है।

उनकी लिखी पुस्तकें हिन्दी-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हुए भी वैसी उच्चकोटि की नहीं है कि उनको संसार के महान ग्रन्थों में स्थान मिले। कुमार संभवसार, रघुवंश (हिन्दी में) हिन्दी महाभारत, स्वाधीनता, सम्पत्ति शास्त्र, बेकन विचार-रत्नावली आदि उनके लिखे ग्रन्थ हैं जिनका सदैव आदर होगा पर इन ग्रन्थों का लिखना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि हिन्दी-भाषा की शैली का निर्माण कर, भटकते हुए साहित्यिक प्रयासों को एक रास्ते पर लगा देना। यह चीज कितनी भारी है, यह शायद हमारे पाठक अच्छी तरह न समझ सकें। हरेक देश में साहित्य का निरूपण उतना ही बड़ा काम होता है जितना बड़ा राजनैतिक निरूपण। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण-काल में नेता का काम किया था और इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि ये दो महापुरुष न पैदा हुए होते तो हमारी हिन्दी का खजाना इतने हीरे मोतियों से कैसे भर जाता! पर, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी यदि हमारा पथ-प्रदर्शन न करते तो उनके पूर्ववर्तियों के प्रयत्नों का परिणाम न निकल पाता। आज तो हिन्दी सेवा के लिये माननीय श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्री सम्पूर्णानन्दजी ऐसे जीवट के लोग सम्बद्ध हैं, उसके साहित्य को श्री प्रेमचन्द जी, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, श्री जगन्नाथ रत्नाकर, रायबहादुर श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राष्ट्र कवि मैथिली-शरण गुप्त, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, डा० भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि विद्वान अमूल्य रत्न-दान कर गये हैं तथा कर रहे हैं पर यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो इनकी उंगली

पकड़ कर, इन्हें एक रास्ते से लगा देने का कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही किया।

सन् ५७ के ग़दर के बाद देश सम्हल कर नयी व्यवस्था में प्रवेश कर रहा था। संयुक्त-प्रान्त के अवध सूबे में नवाबी ख़त्म होकर ब्रिटिश हुकूमत शुरू हुई थी और इस रद्दोबदल के कारण अवध का सूबा काफ़ी ग़रीब और परेशानी की हालत में था। महावीर का जन्म सन् १८६३ में रायबरेली ज़िले के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। उस समय चारों ओर अशिक्षा तथा अव्यवस्था फैली हुई थी। इनके घर की भी आर्थिक हालत अच्छी न थी। पर, महावीर बालक को पढ़ने की धुन थी। पहले तो गाँव के ही मकतब में उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की। कुछ-कुछ हिन्दी भी वहीं सीखा। संस्कृत भी थोड़ा पढ़ लिया। फिर अंग्रेज़ी पढ़ने के लिये रायबरेली के स्कूल में भर्ती हो गये। यह स्थान ग्राम से ३० मील दूर था और वहाँ पर महावीर को रहने का साधन भी न मिला। अतएव रोज शहर पैदल जाते और आते। जो लड़का ६० मील की यात्रा केवल पढ़ने के लिये करेगा उसकी तपस्या का अनुमान पाठक कर सकते हैं। कुछ दिनों बाद वहाँ रहने का प्रबन्ध हो गया। अब वे सात दिन का "सीधा" (खाने का सामान) लेकर जाते। अपने हाथ से भोजन बनाते और चौका बर्तन भी कर लिया करते थे। इतनी लगन तथा परिश्रम से पढ़ने का परिणाम सदैव ही अच्छा होगा। पर, इस अध्ययन में भी बाधा पड़ी। दरिद्रता के कारण पढ़ायी आगे न बढ़ सकी। उसे छोड़कर बम्बई अपने पिता के पास चले गये। वे एक साधारण नौकरी करते थे। महावीर को रेलवे में नौकरी लग गयी। बम्बई के ही प्रवास में उन्होंने तार बाबू का काम सीख लिया और इस तरह वे तार बाबू बन गये।

यदि वे इस मुहकमे में ही काम करते रहते तो मोटी तनख्वाह पर पहुँच गये होते और कोई बड़े अफ़सर बनकर अवकाश ग्रहण करते। पर, नियति को इनसे और कुछ ही कराना था। इनकी सफलता का सबसे बड़ा श्रेय इनकी धुन, ईमानदारी, मेहनत से काम करने की प्रवृत्ति को है। इसीलिये, रेलवे के मुहकमे में भी इनकी तरक्की होती गयी। कभी नागपुर, अजमेर आदि भी तबादला होता गया और अन्त में वे झाँसी में टेलिग्राफ इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। यहीं पर इन्होंने रेलवे के "लाइन क्लियर" यानी "रास्ता साफ है" का सिगनल ईजाद किया जिसे रेलवे अधिकारियों ने बहुत पसंद किया।

झाँसी के प्रवास के समय इनको अपना निजी अध्ययन और भी अच्छी तरह से करने का अवसर मिला। बंगला, मराठी, गुजराती भाषायें भी ये सीख गये थे। संस्कृत तथा फ़ारसी में तो पंडित थे ही। सरकारी नौकरी करते समय इन्होंने कभी भी अपना ध्यान विद्या की ओर से नहीं हटाया। हिन्दी लिखने पढ़ने का बड़ा शौक़ था और हिन्दी की सेवा करने की बड़ी इच्छा थी। उन दिनों हिन्दी में रसीली कहानियाँ तथा चटपटा मसाला लिखने का रिवाज सा हो रहा था। महावीर ने भी ऐसी ही एक चटपटी कहानी लिखी जिसे इनकी धर्मपत्नी ने देख लिया। उन्होंने उनकी इस तुच्छ प्रवृत्ति की ऐसी खिल्ली उड़ायी कि उसी दिन से शुद्ध-साहित्य की रचना का जो संकल्प लिया, उसे पूरा करके ही छोड़ा। आचार्य के जीवन पर उनकी सहधर्मिणी का बड़ा प्रभाव पड़ा। वे नैतिकता तथा सात्विकता की मूर्ति थीं।

सन् १९०१ के नव वर्ष तथा बीसवीं सदी के नव-युग के साथ ही द्विवेदी जी के जीवन में भी नया युग आगया। इसी वर्ष,

सरकारी नौकरी पर लात मारकर आप हिन्दी-साहित्य की सेवा के उस मार्ग पर चल पड़े जो न केवल बीहड़ और अन्धकारमय था बल्कि जिसके लिये दरिद्रता का भी बाना पहनना पड़ता था। इलाहाबाद में चिन्तामणि घोष नामक कार्यपटु तथा सुशील बंगाली ने इंडियन प्रेस खोला था और यहीं से वे हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन कर रहे थे। यद्यपि यह कार्य व्यवसाय के लिये शुरू किया गया था पर यह निर्विवाद है कि घोष ने हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। घोष महाशय अपने प्रेस से एक मासिक पत्रिका निकालना चाहते थे और उन्होंने सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। लगभग ४० वर्ष तक यह पत्रिका भारत की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी मासिक तथा देश की सभी पत्रिकाओं में प्रमुख स्थान रखती थी। इसे हिन्दी का "माडर्न रिव्यू" कहने से ही काम नहीं चलेगा। इसने उससे कहीं अधिक काम किया है।

श्री चिन्तामणिघोष के आग्रह पर प० महावीरप्रसाद ने "सरस्वती" के सम्पादन का कार्य सन् १९०२ में अपने हाथ में लिया और सरकारी नौकरी पर लात मार दी। पर, उनको घोष बाबू ही ऐसा साथी तथा मालिक मिला था कि वे हिन्दी की इतनी सेवा कर सके। दूसरी परिस्थिति में वे इतना काम न कर सकते। "सरस्वती" ने नये लेखक पैदा किये, मालवीय जी ऐसों को भी हिन्दी में लिखने के लिये विवश होना पड़ा। महावीर प्रसाद जी को इतनी हिम्मत करनी पड़ती थी कि कभी कभी पूरा पत्रिका वे ही लिख डालते। हरेक लेख का स्वयं संशोधन करते। भाषा को माँजते। एक नयी धारा ही उन्होंने पैदा कर दी। आज उसी धारा को उन्नत कर हिन्दी साहित्य अंग्रेजी की टक्कर ले रहा है पर, उस समय यह काम कितना कठिन था, यह लिखना सम्भव नहीं है। उनके

संसोधनों से लोग चिढ़ तक जाते थे। पर, वे अपने मार्ग पर अटल थे। उन्हें काफी बुरा भला भी सुनना पड़ता पर वे सबकी सुनकर करते वही जो उचित होता। उनको अपनी पत्रिका के द्वारा हिन्दी को ऐसे साँचे में ढालना था कि वास्तव में वह २० करोड़ भारतीयों की भाषा बन सके। आज तो महात्मा गाँधी भी हिन्दी की सेवा के साथ ही उर्दू को भी राष्ट्र भाषा में स्थान देने की हिमायत करने लगे हैं पर अपने समय में आचार्य ने यह दिखला दिया था कि हिन्दी ही किस प्रकार सबकी भाषा हो सकती है। इस विषय में वे गरमार की कटु आलोचना करने में भी नहीं डरते थे। काशी में जब श्री श्यामसुन्दरदास (बाद में रायबहादुर व डाक्टर) तथा प० रामनारायण मिश्र ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को जन्म दिया तो उनको आचार्य से बड़ी सहायता मिली। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के विकास में भी इनका बड़ा हाथ था। आज तो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्राण श्री पुरुषोत्तम-दास टंडन हैं।

लोगों की कलम पर इस प्रकार बागडोर लगाकर उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिये लगातार १८ वर्ष तक परिश्रम करने के बाद सन् १९२० में उन्होंने सरस्वती के सम्पादन से अवकाश ग्रहण किया। उनके बाद इस पत्रिका के यशस्वी सम्पादकों में श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी तथा प० देवीदत्त शुक्ल जी का नाम उल्लेखनीय है।

"सरस्वती" से अवकाश ग्रहण कर आचार्य अपने ग्राम दौलतपुर में ही रहने लगे थे। इनकी धर्मपत्नी का देहान्त इनकी ४६ वर्ष की उम्र में ही हो गया था। लोगों के आग्रह करने पर भी इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। पत्नी की स्मृति में इन्होंने ग्राम में एक मंदिर बनवाया जिसमें लक्ष्मी तथा

सरस्वती की प्रतिमा के साथ उनकी भी मूर्त्ति स्थापित की। इसी मंदिर के पास उनकी धर्मपत्नी का बनवाया हुआ श्री हनुमान जी का मंदिर है। कोई सतान न होने के कारण आचार्य के भांजे ही उनकी देखरेख करने लगे।

इनके सामाजिक विचार बड़े उन्नत थे। स्त्री शिक्षा, अंग्रेजी शिक्षा आदि के कट्टर समर्थक थे। बाल-विवाह के घोर विरोधी थे। विधवाओं के प्रति बड़ी करुणा रखते थे। साक्षरता प्रचार के बड़े हिमायती थे। भारतीयों को यह नसीहत देते थे कि अपनी सभ्यता तथा शालीनता पर पूर्ण विश्वास रखते हुए पाश्चात्य की सभ्यता से जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे ग्रहण करना चाहिये, इनके विचारों से अपढ़ ग्राम वालों को चिढ़ थी इसीलिये वे उनको द्विवेदी या दूबे न कह कर दुबौना कहते थे।

आचार्य ने अपने ग्राम के प्रवास से ही हिन्दी की निरंतर सेवा की। जब तक वे जीवित रहे, हिन्दी लेखकों के बादशाह तथा नेता बने रहे। दौलतपुर हरेक हिन्दी सेवी के लिये तीर्थ स्थान होगया था और अब भी है। बड़े-बड़े धुरंधर लेखक वहाँ जाकर उनके चरणों में बैठकर भाषा की सेवा के लिये उपदेश ग्रहण करते थे। जब तक आँख काम देती रही, ख़ुद भी लिखने का काम जारी रखा। सरस्वती के स्वामियों ने, चिन्तामणि जी की मृत्यु के बाद भी, इनको उसी आदर की दृष्टि से देखा और बराबर पेंशन देते रहे।

आचार्य बड़े सरल तथा सादे स्वभाव के व्यक्ति थे। अतिथियों का बड़ा आदर सत्कार करते थे और उनकी बड़ी खोज खबर रखते थे। पत्र-व्यवहार में बड़े पटु थे तथा पत्रों को निरुत्तर टाल रखना अशिष्टता समझते थे। इनका निजी

चरित्र भी ऐसा था कि उससे काफ़ी उपदेश प्राप्त हो सकता है।

सन् १९३२ में बड़ी धूमधाम से उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ मनायी गयी थी। २१ दिसम्बर सन् १९३८ को हिन्दी के इस भीष्म पितामह ने अपनी संसार की लीला समाप्त की।

डॉ० भगवान दास जी

हिन्दुस्तान के किसी एक नगर ने यदि अपने देश को अधिकतम नर रत्न दिये हैं तो वह काशी है। आर्य सभ्यता या प्राचीन विद्या के केन्द्र इस स्थान को भारत का सिरमौर तथा वैदिक भारत का एकमात्र प्रतिबिम्ब कहना अनुचित न होगा। परिस्थित के कारण आज यह नगर भी उस पद से गिर कर श्रीहत हो रहा है। फिर भी, संस्कृत विद्या, ज्योतिष, भारतीय न्याय तथा दर्शन का यह सबसे विद्वान नगर है।

इसी नगर के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बापूदेव शास्त्री, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, श्री प्रेमचन्द्र, श्री जयशंकर प्रसाद, डा० गणेशप्रसाद आदि विद्वानों ने देश को ऊँचा उठाया है। इसी नगर में डा० भगवानदास, श्री सम्पूर्णानन्द जी, आचार्य नरेन्द्रदेव, सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पं० इकबाल नारायण गुर्टू, श्री श्री प्रकाश जी आदि अपने पांडित्य का मार्जन कर रहे हैं। श्री सम्पूर्णानन्द जी की लिखी दो पुस्तकें जो

अभी हाल में प्रकाशित हुई हैं, "ब्राह्मण सावधान" तथा "गणेश" ने साहित्य में हलचल मचा दी है।

डा० भगवानदास जी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति हैं। उन्होंने संसार पर अपनी विद्वत्ता की छाप जमा दी है। यह कहना सर्वथा सत्य है कि वर्त्तमान भारत में वे सबसे बड़े विद्वानों में से हैं और यही नहीं, संसार के सबसे बड़े पण्डितों में उनकी प्रमुख गणना की जा सकती है। पर, केवल विद्वत्ता ही इनकी महत्ता नहीं है। इनका मंत्र आज संसार एक कान से सुनकर दूसरे कान से उड़ा दे, पर कल उसे महामंत्र को स्वीकार करना पड़ेगा। तभी उसका कल्याण होगा। वह मन्त्र है "सब धर्मों की तात्विक एकता"। बड़ी लगन और परिश्रम के साथ डा० साहब संसार को समझाने की वर्षों से चेष्टा कर रहे हैं कि भाई, सब झगड़े की जड़ धार्मिक मतभेद है। पर, वास्तव में मतभेद तभी तक है जब तक हम हरेक धर्म का असली तत्व नहीं समझते। हर एक धर्म के मूल में एक ही बात है और सबका उद्देश्य और लक्ष्य एक ही है। मनुष्य अन्धा है जो इन तत्वों को न समझ कर इधर उधर के पचड़ों में पड़कर परस्पर का जाल जंजाल फैलाये हुए है। बाबा कबीरदास के शब्दों में :—

सब आये इस एक में, डाल पात फल फूल।
मित्रों पाछे क्या रहा, जब पकड़ा गहि मूल॥

इसलिये, तात्विक एकता को पहचान कर, विश्व बन्धुत्व का प्रतिपादन करो और अपने को 'स्व' को, पहचानो। जब तक हम अपने को नहीं पहिचानेंगे, संसार की वासना और कामना हमें नीचे से नीचे गढ़े में गिराती चली जावेगी और हम ऊपर न उठ सकेंगे। स्वराज्य की बात सभी करते हैं पर स्वराज्य है क्या

वस्तु, यह बहुत कम लोग जानते हैं या जानना चाहते हैं। अपने लक्ष्य की बिना व्याख्या किये आगे बढ़ने का विचार ही मिथ्या है, मूर्खता है। भारत को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को नहीं भूलना चाहिये और उसे बड़े संकल्प के साथ उसी प्राचीन ऋषि प्रदत्त मनुस्मृति के आधार पर अपने राष्ट्र का नव मन्थन तथा संगठन करना चाहिये। कोरे भौतिकवाद से कभी उद्धार न होगा। आत्मा-परमात्मा को दूर फेंक देने में ही संसार में अनाचार फैला, है। जब मनुष्य ईश्वर का बन्दा बनेगा, तभी उसका कल्याण होगा।

डा० साहब के पवित्र तथा महान् विचारों को बहुत ही संक्षेपतः कुछ पंक्तियों में देने का हमने प्रयास किया है पर वास्तव में इस महापुरुष को समझने के लिये इनके व्याख्यानों को, इनकी पुस्तकों को पढ़ना चाहिये। दर्शन तथा मनोविज्ञान के इस धुरन्धर विद्वान ने बहुत ही अनूठे ग्रन्थ लिखे हैं। भाव विज्ञान, शान्ति विज्ञान आदि इनके बड़े बड़े ग्रन्थ अभी अंग्रेजी में ही हैं और उनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ है। पर उन ग्रन्थों का विदेशों में आदर तथा अपने देश में, अपनी भाषा में अनुवाद तक न देखकर यही होता है कि हम अपने महापुरुषों की क़द्र करना नहीं जानते। डा० भगवानदास ने जितना लिखा है उतना किसी भारतीय ने नहीं। इनके ग्रन्थों को समझाने के लिये विदेशियों ने उन पर टीका तक लिखी है। मनुस्मृति पर इनका गवेषणापूर्ण विवेचन हमारे लिये गौरव की वस्तु है। सब धर्मों की तात्त्विक एकता पर लिखी गयी इनकी पुस्तक संसार के श्रेष्ठ ग्रन्थों में स्थान रखती है। विद्या ही इनका व्यसन रहा है, लिखना ही इनका विलास रहा है। पचास वर्षों से भारतीयों को जगाना इनका लक्ष्य रहा है और इस उम्र में भी, जिस नियम तथा अध्यवसाय के साथ

वे देश, समाज तथा साहित्य की सेवा कर रहे हैं, वह हमारे लिये परम आदर्श की वस्तु है।

अगर आप चाहते तो युक्तप्रान्त के बहुत बड़े सरकारी ओहदे पर पहुँच गये होते पर डिप्टी कलेक्टर के पद से वे सन् १८९९ में ही हट गये थे। और समाज की सेवा के कार्य में लग गये। लिखने पढ़ने का ही व्यसन नहीं था। देश का दुःख दर्द भी इनको विचलित कर चुका था और देश की सेवा में सन् १९२१ में आप जेल यात्रा भी कर आये थे। सन् १९०७ में श्रीमती बेसेण्ट के नजरबन्द होने के समय से ही आप देश की राजनीति में भाग लेने गये थे। राष्ट्र भाषा हिन्दी की सेवा में वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी थे। बड़ी व्यवस्थापक सभा में, थोड़े दिनों तक ही सदस्य रहे। पर, वहाँ इनकी विद्या तथा विद्वता ने सबको प्रभावित कर दिया था। सन् १९३४ से सन् १९३८ तक आप इसके सदस्य रहे।

किन्तु, डा० साहब का वास्तविक कार्यक्षेत्र शिक्षा, लेखन तथा साहित्य सेवा रहा है। बहुधन्धी व्यक्ति होने के कारण समाज सेवा के कार्य में वे सदैव अग्रणी अवश्य रहे, पर, वास्तविक कार्यक्षेत्र हम बतला चुके हैं। समाज सुधारक तो इतने कट्टर हैं कि उस समय से बाल-विवाह-विरोध, विधवा विवाह का समर्थन, स्त्री शिक्षा का प्रचार तथा अछूतोद्धार की माँग उठाई जब इन चीजों का नाम लेना भी अपने सर पर विपत्ति का पहाड़ बुला लेना था। किन्तु, इनके सभी कार्य शास्त्र सम्मत तथा न्याय संगत होते हैं। तर्क करके जो चीज शास्त्र की मर्यादा से सिद्ध कर लेते हैं, उसी का संकल्प करते हैं। आज हम उनकी इस बात से सहमत न हों कि शासन तथा व्यवस्था का कार्य, व्यवस्थापक समिति का कार्य बुजुर्गों को ही

करना चाहिये, पर इस कथन में बड़ा बल है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० भगवानदास जी का जन्म एक ऐतिहासिक तथा धनी परिवार में १२ जनवरी, सन् १८६९ में हुआ था। यह घराना शाह घराना कहलाता है। इनके पिता श्री माधवदास जी बड़े योग्य पुरुष थे। इनके पूर्वज बा० मनोरहदास ने (१७२०-१८०४) में कलकत्ता में मनोहरदास का कटरा बनवाया था। यह कटरा आज इस परिवार की अच्छी खासी आमदनी का साधन है। पिता के संयमशील जीवन का डा० भगवानदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। माता भी परम साधु तथा साध्वी वैष्णव थीं। उनका भी इनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

बालक भगवानदास पढ़ने में बड़े तेज और कुशाग्र बुद्धि के थे। १९ वर्ष की उम्र में ही इन्होंने दर्शन शास्त्र में एम० ए० की परीक्षा पास कर ली थी। सन् १८८५ में इनका विवाह परम सुशीला तथा आदरणीया चमेली देवी से हुआ। आप बड़ी आदर्श धर्मपत्नी हैं। एम० ए० पास कर भगवानदास जी सरकारी नौकरी में चले गये। पर इनके जीवन में एक दूसरा सूर्य उदय हो गया था और वे थीं पण्डिता तथा साध्वी डा० एनी बेसेंट। श्रीमती एनी बेसेंट ने भारत में थियोसिफिकल सोसायटी की स्थापना ही नहीं की, हमारे देश की संस्कृति तथा धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार ही नहीं किया, बल्कि, हिन्दुस्तान के सामाजिक तथा राजनैतिक अभ्युत्थान में बहुत बड़ा भाग लिया। भगवानदास भी उनके शिष्य हो गये और उनको अपनी आध्यात्मिक माता स्वीकार किया। कई वर्षों बाद 'आगामी मसीहा" या "कृष्ण" के प्रश्न पर उनका श्रीमती बेसेंट से मतभेद हो गया और वे थियोसिफिकल सोसायटी से

अलग होगये। पर आध्यात्मिक माता तथा आध्यात्मिक पुत्र का संबन्ध सदैव बना रहा।

श्रीमती बेसेंट के प्रयत्न से सन् १८९८ में बनारस सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना हुई। भगवानदासजी ने सरकारी नौकरी छोड़ दी और इस कालेज का कार्य सम्हालने लगे। उन दिनों थियोसिफिकल सोसायटी ने भारत में बहुत बड़ा काम किया था और उसकी आज भी हमारे देश पर अमिट छाप है। श्रीमती बेसेंट के बाद श्री एरेंडेल नामक विद्वान् साधु इस संस्था के अध्यक्ष हुए थे। इनकी अभी हाल में ही मृत्यु हुई है।

अस्तु, भगवानदासजी ने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के निर्माण तथा संगठन में अथक परिश्रम किया और कुछ ही वर्षों में यह विद्यालय भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्यालयों में से हो गया। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की शिक्षा देते हुए पश्चिमीय शिक्षा देना था। भगवानदास जी इस संस्था के बोर्ड आव ट्रस्टीज के मंत्री थे। सन् १९१४ तक इस संस्था की सेवा करने के उपरान्त, भगवानदास जी ने पं० मदनमोहन मालवीय के साथ हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में बड़ा सहयोग दिया। सन् १९१५ में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज ने इस विश्वविद्यालय की नींव रखा था। सात वर्ष तक डा० साहब का इस संस्था में संबंध रहा।

सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन तथा सरकार से सहायता प्राप्त शिक्षा केन्द्रों के बहिष्कार की लहर फैल गयी। डा० भगवानदास जी भी जिस ढंग की आदर्श शिक्षा के हिमायती थे, वह सरकार से सहायता प्राप्त स्कूल-कालेजों में संभव नहीं प्रतीत होती थी। काशी के प्रसिद्ध दानवीर तथा भारत की एक विभूति श्री शिवप्रसाद गुप्त (मृत्यु १९४४) ने काशी विद्यापीठ

नामक विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये ११ लाख रुपये का दान दिया। डा० भगवानदास जी ने प्रसन्नता पूर्वक इस संस्था का संचालन तथा संगठन करना स्वीकार कर लिया। वे इसके आचार्य हो गये। इस संस्था ने भारत की शिक्षा प्रणाली में बड़ा परिवर्तन किया है और इसके अध्यापन की आदर्श प्रणाली से बड़े योग्य विद्वान् देश को प्राप्त हुए हैं। डा० साहब को आपने इस नये कार्य में श्री नरेन्द्रदेव (बाद में आचार्य) प्रो० केलकर, देशभक्त केसरी श्री गोपालशास्त्री, डा० मंगलदेव, प्रो० रामशरण, श्री सम्पूर्णानन्द जी, डा० साहब के विद्वान् पुत्र श्री श्रीप्रकाश, योगेश चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों से बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ है। महाविद्यालय के प्रबन्धकों में उसके कार्यालय के पं० विश्वनाथ शर्मा भी शुरू से इस संस्था के सच्चे सेवक रहे हैं। इसकी प्रबन्ध समिति में महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन प्रभृति व्यक्ति हैं।

डा० भगवानदास जी को डा० आव लिटरेचर की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई है। पर आप केवल साहित्य तथा शिक्षा के ही नेता नहीं हैं। साधारण जीवन से ही हम आपको "डा० आव लाइफ" भी कहते हैं। आदर्श जीवन है। नित्य-कर्म बड़े नियम से होता है रोज कसरत करते हैं। बुढ़ापे का शरीर पर पढ़ायी लिखाई ज्यों की त्यों जारी है। बड़े मधुर भाषी तथा स्नेही व्यक्ति हैं। शिष्यों पर बड़ी कृपा रखते हैं। स्वच्छता मन तन तथा रहन सहन में कूट कूट कर भरी है। अद्भुत स्मरण शक्ति है। पत्र व्यवहार में बड़े कुशल हैं और किसी पत्र लेखक को निराश नहीं करते। कुशल पत्रकार तथा वक्ता हैं। काशी में जब अखिल एशियाई सम्मेलन हुआ था, उस समय आपका एशिया के विचारों में साम्य व्याख्यान स्यात् सबसे विद्वता पूर्ण था। हिन्दी उर्दू की सेवा के लिये

स्थापित सरकारी संस्था हिन्दुस्तानी एकेडमी ने आपका भारतीय दर्शन पर व्याख्यान कराया था। उतना गवेषणा पूर्ण व्याख्यान हमने नहीं पढ़ा। काशी की सामाजिक संस्थाओं को इनसे बड़ा बल मिला है। नगर सुधार के लिये आपका प्रयत्न काशी वासी कभी भूल नहीं सकते। सन् १९२२ में आप काशी म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन चुने गये थे। तीन वर्ष तक इस पद पर जिस शान से, जिस योग्यता के साथ आपने चैयरमैनी की, उसे काशी कभी नहीं भूलेगा। उस समय आपने डिविजन के कमिनशर को एक पत्र लिखा था। नागरिक शास्त्र में रुचि रखने वाले प्रत्येक भारतीय के लिये वह पत्र ऐतिहासिक महत्व रखता है।

निस्संदेह डा० भगवानदास भारत की नहीं, विश्व की एक विभूत हैं। यदि आज संसार उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुने तो उनका दुःख दर्द दूर हो जाये। डाक्टर साहब की एक छोटी सी पुस्तक अभी हाल में प्रकाशित हुई है। उसका शीर्षक है—"शास्त्रवादःबुद्धिवाद"। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें और उस पर विचार करें।



सर जमशेदजी नसरवानजी ताता

इतिहास साक्षी है कि किसी देश की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्णतः औद्योगिक तथा व्यवसायिक भी हो। बड़े बड़े राष्ट्रों का उत्थान उद्योग और व्यवसाय में प्रगति के कारण ही होता है। आज भारत की दुरवस्था का बहुत बड़ा कारण यह भी है कि यह एक कृषि प्रधान देश है और अपनी कपड़े तक की पूरी जरूरत पूरा करने के लिये इसको बाहर वालों का मुँह देखना पड़ता है।

अब हम यह बात अच्छी तरह से समझ गये हैं और इसी-लिये हमारे देश में विशद औद्योगिक प्रयत्न हो रहे हैं। आज हमारे बीच सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, सर श्रीराम, लाला रामरतन गुप्त, सेठ घनशामदास बिड़ला, सर होमी मोदी, सेठ वालचन्द-हीराचन्द, सेठ कस्तूर भाई लाल भाई तथा सर

कावसजी जहाँगीर तथा सेठ गोविन्दराम सेकसरिया ऐसे प्रसिद्ध औद्योगिक नेता वर्तमान हैं। सर सोराबजी पोचखान वाला ऐसे प्रसिद्ध बैंकर भी इसी देश में पैदा हुए। पर, एक जमाना ऐसा भी था जब इधर किसी का ध्यान भी नहीं जाता था और लोग औद्योगिक उन्नति की सोचते भी नहीं थे। किसी ने यह ध्यान भी नहीं दिया कि जो प्राचीन भारत संसार के उद्योग व्यवसाय का केन्द्र था, वही इतना गिर गया है कि अपने लिये लिखने की स्याही तक नहीं बना सकता। ऐसे समय में एक व्यक्ति ने जन्म लिया जिसने नीति के इस वाक्य को अक्षरशः सिद्ध कर दिया:—

उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

अर्थात् उद्योग से ही पुरुष सिंह लक्ष्मी को प्राप्त करता है। दैव अर्थात् भाग्य से धन मिलता है, यह कायरों का वचन है। इस मंत्र के ज्ञाता तथा इसकी सत्यता को प्रमाणित करने वाले और भारत में उद्योग व्यवसाय की लहर फैला देने वाले, साथ ही आज भारत की सबसे बड़ी औद्योगिक व्यवसायिक संस्था के जन्मदाता का नाम जमशेदजी नसरवानजी ताता था।

वे पारसी थे। सैकड़ों वर्ष पहले फारस से आकर पारसी लोग बम्बई के तट पर बस गये थे तथा हमारे देश की सभ्यता में घुल मिल गये थे। पारसियों का धर्म भी हमारे हिन्दू धर्म से बहुत कुछ मिलता जुलता है। वे अग्नि के पूजक हैं। पंचतत्व के उपासक हैं। हम अपने देवता को सुर कहते हैं। वे असुर कहते हैं। अब तो यह प्रमाणित हो गया कि पारसी धर्म प्राचीन आर्यधर्म की ही एक शाखा है।

पारसियों में नया जोश था। नये देश में नयी सत्ता स्थापित करनी थी वे बड़े कुशल व्यवसायी थे तथा धीरे धीरे

उन्होंने अपना रोजगार चीन जापान तक बढ़ा लिया था। यह शिक्षित समुदाय था और अंगरेजी शिक्षा को बम्बई में सबसे पहले इसी समुदाय ने अपनाया था। जमशेदजी का जन्म इसी समुदाय में सन् १८३९ में हुआ था। व्यवसायी परिवार था। इसका सम्बन्ध प्रसिद्ध रोजगारी प्रेमचन्द्र रायचन्द्र से था। इस फर्म ने जमशेद जी को अपनी शाखा खोलने के लिये, थोड़ी उम्र में ही चीन भेज दिया था। इसके बाद तो अपने फर्म की ओर से वे बराबर विदेश जाते रहे।

शंघाई में अपने फर्म की शाखा खोलने में जिस योग्यता का परिचय उन्होंने दिया था, उससे प्रसन्न होकर इनको इंगलैंड भेजा गया था। उन दिनों अमेरिका में गृह-युद्ध चल रहा था अतएव रुई के रोजगार में इनके फर्म को काफी मुनाफा रहा। पर लाभ के बाद हानि का भी दौरा आता रहा। इन सब व्यापारिक अनुभवों ने जमशेद जी की आँखें खोल दी थीं। वे यह समझ गये थे कि केवल आयात निर्यात का रोजगार करने में, विदेशी माल भारत लाने और भारतीय माल विदेश पहुँचाने से देश की तथा उनके फर्म की भी असली औद्योगिक उन्नति नहीं होगी। हिन्दुस्तान को अपना खुद का कल कारखाना चालू करना चाहिये।

उस समय भारत में कल कारखाने के नाम पर केवल सूती कपड़े के कारखाने को जन्म मिल चुका था। पर इन कारखानों का माल इतना रद्दी और मोटा होता था कि विश्व के बाजार में उसकी कोई वक़त नहीं हो सकती थी। जमशेद जी ऐसी चीजें बनाना चाहते थे जो विदेशियों से मुकाबिला कर सकें और इसलिये उन्होंने रुई उत्पादन के केन्द्र नागपुर में इम्प्रेस मिल की स्थापना की। इस मिल ने इतनी उन्नति की और इतना अच्छा माल बनाने लगी कि सन् १९२०

तक यह अपने हिस्सेदारों को २६० प्रतिशत तक मुनाफा देने लगी।

जमशेद जी की बुद्धि बड़ी उर्वर तथा तीक्ष्ण थी। वे समय की गति को अच्छी तरह से पहचान गये थे। उनके सामने देश की दुरवस्था को सुधारने के लिये विशद कार्यक्रम था पर उचित समय पर ही उद्देश्य पूरा हो सकता है। भारत के औद्योगिक विकास का इतिहास भारत सरकार की आर्थिक नीति का इतिहास है। यदि सरकारी सहायता अधिक होती तथा देश के हित में नीति बर्ती जाती तो भारत का औद्योगिक उत्थान बहुत शीघ्र होता। पर ऐसा न हुआ और महापुरुषों को अपने बल पर ही सब कार्य करने पड़े।

जमशेदजी ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि पुरानी लकीर पीटने से कोई लाभ नहीं। नये उद्योग खोलना कहीं अच्छा है बनिस्बत इसके कि पुराने कारखानों को खरीद कर उनको ठीक रास्ते पर लाया जावे। दो एक पुराने कारोबार खरीद कर वे पछता चुके थे। नये औद्योगिक विकास के लिये उन्होंने अपने पास से व्यय कर अपने कार्यकर्त्ताओं को विलायत भेजा था। इनके एक उत्कट कार्यकर्त्ता तथा देशभक्त श्री बी० जे० पादशाह थे जिन्होंने अपने स्वामी की ओर से विश्व भ्रमण किया था।

आज ताता आयरन स्टील वर्क्स का बड़ा नाम है। जमशेद-पुर का तातानगर एक आदर्श औद्योगिक नगर है। लोहे तथा फौलाद का कारखाना खोलने की बात जमशेदजी के दिमाग में सन् १८९९ में आई। तुरन्त वे इसके पीछे पड़ गये। उपयुक्त स्थान तथा कोयले की खान के पास ही यह बड़ा कारोबार खुल सकता था। झरिया के कोयले के कारखानों के पास, छोटा नागपुर में एक स्थान चुना गया। यही स्थान जमशेदपुर के

नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्थान चुनने के बाद लिमिटेड कम्पनी बना दी गयी तथा उसके शेयर बेचने का सवाल सामने आया। भारत में ऐसा शेयर बिकना सम्भव न था। इसलिये यूरोप तथा अमेरिका के बाजारों की शरण ली गयी पर काम न चला। अन्त में जमशेदजी के पुत्र ने बम्बई तथा कलकत्ता के बाजार में ही अपना शेयर रखा। स्वदेशी आन्दोलन के उस जमाने में हमारे देश में ही यह चालू पूँजी हाथों हाथ बिक गयी और १०,४७,००.००६ रुपये की पूंजी से ताता स्टील वर्क्स खड़ा होगया। आज इसमें ४५,००० व्यक्ति काम करते हैं और करोड़ों का माल तय्यार होता है। गत महायुद्ध में ताता स्टील वर्क्स से मित्रराष्ट्रों को बड़ी सहायता मिली। किन्तु, यह विशाल कार्य जमशेदजी के जीवन में पूरा न हो सका था। इस कार्य की पूर्ति उनके सुयोग्य पुत्र सर दोराबजी ताता ने की थी।

मैसूर स्टेट को कावेरी नदी के जल से बिजली पैदा करते देखकर जमशेदजी ने भारत की बड़ी नदियों के जल का उपयोग करने का संकल्प किया और ताता हाइड्रो इलेक्ट्रिक वर्क्स की योजना की। लोनावाला की छिछली भील में किस प्रकार पानी इकट्ठा करके, कई पेचीदा रास्तों से पानी में अत्यधिक प्रवाह उत्पन्न करके उसमें २,४५००० घोड़े की शक्ति की बिजली प्राप्त की जाती है तथा बम्बई के तमाम कल कारखानों को पहुंचाई जाती है, इसका रोचक वर्णन विद्वान् इलेक्ट्रिकल इन्जीनियर ही कर सकता है। इस कारखाने द्वारा रेलवे लाइन तथा पूना तक बिजली पहुँचायी जाती है। इस कम्पनी की चालू पूँजी ६,०५, ००,०० रुपये हैं।

जमशेदजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इनका सबसे बड़ा काम औद्योगिक क्षेत्र में था जिसमें इन्होंने एक नयी भावना का संचार कर दिया था। नयी खोज तथा नये उद्योग की जो

प्रवृत्ति उन्होंने उत्पन्न की थी, वह आज भारत का पथ प्रदर्शन कर रही है। आज भारत में बड़े बड़े रोजगार ताता ने चालू कर रखे हैं। तेल, साबुन तक वे बनाते हैं। उनका बनाया सूती माल जितना अच्छा होता है उतना ही लोहा तथा फौलाद का माल। पर, केवल मशीन लगा देने से ही रोजगार नहीं चल निकलता। बड़ी छानबीन, खोज तथा कठिनाइयों को पार करना तथा विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। जमशेद नगर का इतिहास ही यदि ध्यानपूर्वक पढ़ा जावे तो इतना अनुभव हो जावेगा कि आदमी बड़े-बड़े कारोबार चला ले जावे। पर, जमशेदजी को इन अनुभवों की कठिनता से नहीं गुजरना पड़ा। यह कार्य उनके सुयोग्य पुत्र दोराबजी ताता ने किया। दोराबजी ऐसा पुत्र न होता तो जमशेदजी अपनी महत्वकांक्षा को अपने मरने के बाद स्वर्ग बैठे पूरी होते न देख सकते थे। वे अपना सभी काम अधूरा छोड़कर मरे थे। यहां तक की बैंगलोर में वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये उन्होंने जो संस्था बनायी थी उसका काम भी उनके मरने के बाद पूरा हुआ। इसलिये सर दोराबजी ताता का सदैव आदर के साथ हमें याद रखना चाहिये।

जमशेदजी ने केवल रुपया ही नहीं कमाया उसका सदुपयोग भी किया वे केवल व्यवसायी नहीं थे, बहुत बड़े समाज सेवक भी थे। आज बम्बई की इतनी उन्नति का श्रेय उन्हें ही है। बम्बई की सुन्दरता में उनका बड़ा हाथ है। एशिया का सबसे अच्छा होटल ताजमहल उन्हीं के संकल्प का फल है। शिक्षा के कार्य में उन्होंने लाखों रुपया दान दिया। ताता की फर्म हर वर्ष लाखों रुपयों की छात्रवृत्ति देकर, भारतीय छात्रों को विदेश भेजकर विशिष्ट शिक्षा दिलाती है। सामाजिक सेवा की शिक्षा के लिये भी इनकी एक संस्था है।

इस महापुरुष तथा इनके परिवार की कथा बड़े महत्त्व की है। एक से एक धुरंधर व्यक्ति एक के बाद एक आते गये और महान कार्य करते गये। जमशेदजी की मृत्यु सन् १६०४ में हुई थी। बम्बई में इनकी यादगार में जो विशाल मूर्ति खड़ी है, वह हमें सदैव सजग करती रहेगी। इस छोटे से लेख में इनका कितना गुणगान किया जावे।

हिज़ हाइनेस आगा ख़ाँ

अभी हाल में ही, दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की महती सभा में हिज़हाइनेस आगा खाँ ने कहा था कि सब लोग मिल-जुल कर, साम्प्रदायिक भेदभाव भूलकर अपने अधिकारों की रक्षा करो, तभी भारतीयों का कल्याण होगा। यही बात आज वे पचास वर्षों से भारतीयों से कहते आ रहे हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश अभी तक भारतीय यह मंत्र नहीं सीख सके हैं कि हम पहले भारतीय हैं फिर और कुछ।

किन्तु, हिन्दू मुसलिम एकता की यह शिक्षा शुरू-शुरू में ही, उस समय से ही जब कि इसकी कोई जरूरत भी हम नहीं समझ पाये थे, हमें देनेका श्रेय हिज़ हाइनेस आगा ख़ाँ को है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने मुसलमानों की सेवा विशेष रूप से की है। उनका आगा [illegible] बातों में वे एक प्रकार से सर सय्यद अहमदखाँ के [illegible] आगे रहे हैं।

उनकी शिक्षा, उनके धर्म, उनकी सभ्यता की रक्षा के लिये आगा खाँ ने तन-मन-धन से सहायता की है। अलीगढ़ मुसलिम-विश्वविद्यालय की स्थापना के समय उन्होंने ३० लाख रूपये इकट्ठा कराकर दिये थे और स्वयं ६०००) रुपया साल पहले देते थे। अब उसे बढ़ाकर १०,०००) रुपया साल का दिया है। इसके अलावा इस संस्था को जब कभी काफी तंगी महसूस हुई है, वे उसके काम आये हैं। इसके अतिरिक्त मुसलमानों की अनेक समाज-सेवक संस्थाओं के प्राण रहे हैं। अब भी लाखों रुपया साल उनके द्वारा दान-धर्म में व्यय होता है।

पर, आगा खाँ का यही महत्व नहीं है। भारतीय राजनैतिक जीवन में इन्होंने आज के पचास वर्ष पहले से बातें सीखनी शुरू की थीं, उन्हीं का आज गाँधी जी ऐसे नेतागण इतना महत्व दे रहे हैं। अछूतों की दुर्दशा सुधारना, गरीबों की और किसानों की नाजुक हालत की ओर ध्यान देना, स्त्रियों को शिक्षित कर उन्हें परिवार के लिये सद्गृहिणी बनाना तथा उन्हें राष्ट्र की योग्य सदस्या बनाना इत्यादि बातें आप उस समय से कह रहे हैं जब हमने इनकी कल्पना भी न की थी। धर्म के आडम्बर को भूलकर, धार्मिक एकता रखना, सद्गृहस्थ बनकर अपनी मान-मर्यादा का पालन करना तथा देश की सेवा करना, यह भी आगा खाँ हमें सिखला चुके हैं। केवल भारत के लिये ही नहीं, विश्व में प्रेम तथा बन्धुत्व की स्थापना के लिये हिज़हाइनेस आगा खां ने बड़ा परिश्रम किया है। पिछले महायुद्ध के बाद वार्सेई की संधि ने हरेक पराजित राष्ट्र की आत्मा को कुचल देना चाहा था। इस सन्धि के द्वारा उत्पन्न परिस्थिति से संसार में बड़ी अशान्ति फैल गयी थी। इस अशान्तिमय वातावरण को दूर करने के लिये हिज-हाइनेस आगा खाँ ने, जिनको जेनेवा-स्थित राष्ट्र-परिषद् यानी "लीग आव नेशन्स" का सभापति चुनकर

संसार ने आदरित किया था, बड़ा परिश्रम किया और इस परिश्रम की चारों ओर प्रशंसा हो रही थी। इसी प्रशंसा के कारण नारवे से मिलने वाले "नोबल प्राइज" के लिये, जिसका एक इनाम विश्व-शांति के सबसे बड़े हिमायती को भी मिलता है, इनका नाम लिया जाने लगा था और भारत के कौंसिल आव स्टेट ने सर्व सम्मति से यह प्रस्ताव पास किया था कि नारवेजियन पार्लामेंट यह पुरस्कार हिज़हाइनेस को दे।

आग़ा ख़ां भारत की नहीं, विश्व की एक विभूति हैं। उनके राजनैतिक विचारों से हम भले ही न सहमत हों, उनके रहन सहन के ढंग में तथा यूरोप में अत्यधिक रहने के कारण पश्चिमीयता में हमको दोष दीख पड़े पर यह निर्विवाद है कि वे पहले भारतीय हैं तब और कुछ और उनकी ख्याति और यश से भारत का ही नाम होता है। भारत में "हिन्दू-मुसलिम ऐक्य" की स्थापना के अपने परिश्रमों को सफल होते न देखकर तथा राजनीति में सम्पूर्ण स्वतन्त्र विचार रखने के कारण आज वे भारत की राजनैतिक गति-विधि से भले ही अलग हों, पर उन्होंने उस समय से हमारे देश की सेवा का काम शुरू किया है जब भारत के नव-राष्ट्र का अंकुर भी नहीं फूट पाया था।

हिज़-हाइनेस आग़ा ख़ाँ का जीवन बहुधन्धी है। इनका निराला शौक है। घुड़दौड़ में अच्छे घोड़े दौड़ने की बड़ी लगन गॉल्फ के विश्वविख्यात खिलाड़ियों में से हैं। पोलो बहुत अच्छा खेलते हैं। घुड़सवारी का बड़ा शौक है। इनके घोड़े ने डर्बी की लाटरी दो बार लगातार जीता, यह एक अनहोनी बात है। निजी-स्वभाव सादा होने पर भी जीवन बड़ा विलासमय-सुखमय है। धन तो इनके पास इतना है कि कहते हैं कि "बैंक आव इगलैंड" की समूची धन

राशि से अधिक इनकी निजी सम्पत्ति है। इस प्रकार लक्ष्मी की महती कृपा है, विद्या का भी वरदान है। मान सम्मान इतना अधिक है कि संसार में बड़े बड़े नरेशों का क्या होगा ? संसार के प्रत्येक शासक तथा महापुरुष से इनका परिचय है।

हिज़हाइनेस आग़ा ख़ाँ केवल सामाजिक तथा राजनैतिक नेता नहीं हैं, वे बड़े भारी धार्मिक नेता भी हैं। लगभग ६०-७० लाख नर नारी उनको अपना गुरू, ईश्वर, पिता, माता, अभिभावक, संरक्षक सभी कुछ मानते हैं। उनके लिये वे ईश्वर के समान पूजनीय हैं। ऐसे भक्तों की संख्या भारत में ही लगभग २५ लाख होगी। इनके समुदाय को "खोजा" कहते हैं तथा सम्प्रदाय को आग़ाख़ानी कहते हैं।

अरब के मुसलमानों में पैग़म्बर साहब के बाद कई धार्मिक सम्प्रदाय चल पड़े जिनमें वहाबी तथा इस्माइलिया बहुत प्रसिद्ध हैं। इस्माइल नामक एक इमाम अर्थात् धार्मिक नेता होगये थे जिनको खलीफा-हारूँ-अलरशीद का समकालीन कहते हैं। इस्माइल साहब लोगों को अपनी बगल में बहिश्त तथा दोज़ख (स्वर्ग और नरक) तक दिखला देते थे। उसी इमाम गद्दी पर आग़ा खां साहब हैं। इनका वंश भी बड़ा पवित्र तथा प्राचीन है। हजरत पैगम्बर साहब की पहली धर्मपत्नी खदिजा की लड़की फातिमा तथा उसके प्रसिद्ध पति अली का खून इनकी नसों में दौड़ रहा है। यही नहीं, अली के लड़के हुसेन से भी इनकी रिश्तेदारी थी क्योंकि इस लड़के की शादी ईरान के बादशाह की लड़की से हुई थी। इनके दादा हुसेन अलीशाह की शादी फारस के फतेह अलीशाह की लड़की से हुई थी। फारस के इस शाह की मृत्यु पर हुसेन अली ने उनके पौत्र को गद्दी पर बिठाया। अपने लड़के को गद्दी न मिलने का हुक्म फतेह अलीशाह स्वयं दे गये थे। बीस वर्ष बाद शाह के बड़े

वजीर से कुछ झगड़ा हो जाने के कारण हुसेन अलीशाह को बगावत करनी पड़ी और वे अफगानिस्तान भाग आये। यहाँ पर अँग्रेज सरकार तथा अफगानी सल्तनत में गहरा झगड़ा मचा हुआ था। हुसेन अली ने ब्रिटिश सरकार की बड़ी मदद की और वहाँ का झगड़ा शान्त हो जाने पर वे सिन्ध आगये। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वे फारस वापस न जा सके और कुछ समय कराँची तथा कलकत्ता में बिताने के बाद वे बम्बई में आकर बस गये। चूँकि विश्व भर के इस्माइलियों के इमाम यही थे, इसलिये अब इस सम्प्रदाय वालों का केन्द्र भी बम्बई हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इनके लिये एक पेंशन बाँध दी।

हुसेन अलीशाह प्रतिभाशाली पुरुष थे। शीघ्र ही बम्बई में इनकी धाक जम गयी। समाज तथा सरकार दोनों में इनका काफी नाम फैल गया था। अरबी घोड़े पालने का इन्हें बड़ा शौक था और शायद वर्त्तमान आगाखाँ ने घोड़ों से प्रेम अपने दादा से ही ग्रहण किया है।

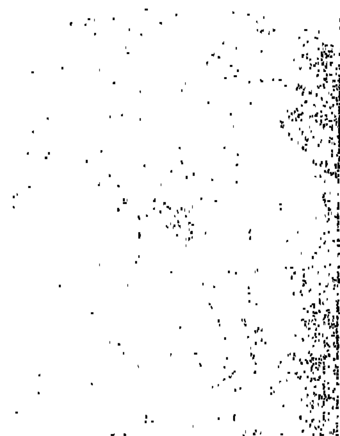
हुसेनअली के ज्येष्ठ पुत्र आगा अलीशाह की दो शादियाँ बेकार गईं। दोनों स्त्रियाँ मर चुकी थीं। अतएव उनकी तीसरी शादी फारस के बादशाह फतेह अलीशाह की पोती से हुई थी। अलीशाह सपत्नीक बगदाद में रहते थे। पर जब इनके पिता कराँची पहुँचे तो उनके पास चले आये। वहीं, २ नवम्बर, १८७७ को वर्त्तमान आगाखाँ का जन्म हुआ। हुसेन अलीशाह का देहान्त अप्रैल, १८८१ में हो गया। उनके उत्तराधिकारी अली शाह अरबी-फारसी के बड़े पंडित थे और उन्होंने अपने सम्प्रदाय वालों का अच्छा संगठन किया। तत्कालीन बम्बई के गवर्नर ने इन्हें अपने कौंसिल में भी नामजद किया था। पर पिता के मरने के चार वर्ष बाद ही यह प्रतिभाशाली पुरुष अकाल-काल

कवलित हुआ। इस समय आगाखां की उम्र केवल ६ वर्ष की थी। अलीशाह बड़े आदर के साथ कर्बला की पवित्र भूमि में दफना दिये गये। इमाम की गद्दी पर वर्तमान आगाखाँ का अभिषेक हुआ। उसी समय सरकार से सूचना मिली कि बाप दादे वाली पेंशन चालू रहेगी। एक वर्ष बाद सरकार ने इस बालक को हिज हाइनेस की सम्मानित "उपाधि" से विभूषित किया।

पर आगाखाँ की माता बड़ी बुद्धिमती तथा सुलझी हुई महिला थी। उनके बच्चे पर लाखों मुसलमानों के धार्मिक नेतृत्व की जिम्मेदारी आ पड़ी थी। घर की रीति के अनुसार भक्तों से दान-द्रव्य प्राप्त करना, दान देना, रुपये पैसे का हिसाब रखना था। शाही रहन-सहन चालू रखना था तथा बच्चे को ऊँचे से ऊँची शिक्षा भी दिलाना था। और इसमें कोई संदेह नहीं कि माँ ने अपने कर्त्तव्य को बड़ी खूबसूरती के साथ निभाया और जब आगाखाँ की उम्र १६ वर्ष की हुई, उन्होंने अपना कारबार सम्हाला। उनके सामने अपनी माता की प्रबन्ध पटुता के कारण किसी प्रकार की न तो कोई परेशानी थी और न उलझन। इसके विपरीत, उनकी शिक्षा इतनी अच्छी हुई थी कि वे अपने महान् पद के सर्वथा योग्य थे।

आज भारत में यदि कोई ऐसा मुसलमान है जो सभी मुस्लिम सम्प्रदायों का आदर तथा स्नेह पात्र है तो वह हिज हाइनेस आगाखां हैं। इसी वर्ष, नवम्बर में उनकी ६८ वीं वर्षगाँठ के अवसर पर खोजा समुदाय ने उनको हीरों से तौला था।

महान शासक



अशोक

हमारे प्राचीन युग के महापुरुषों की जीवनी को दन्तकथाओं ने इतनी बड़ी भूल-भुलैया बना दिया है कि पढ़ने वाला स्वयं घबड़ा जाता है कि कौन सी बात सत्य माने और कौन सी असत्य। किसी भी एक बात को लेकर उस पर स्थिर नहीं रहा जा सकता क्योंकि एक दूसरी दन्त कथा, पहली वाली को असत्य करने के लिये तत्पर रहती है।

संसार के सबसे बड़े शासक तथा अहिंसा के पवित्र मार्ग से ही एक विशाल-साम्राज्य स्थापित करने वाले सम्राट् अशोक के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। ईसा के २७२ वर्ष पूर्व सिंहासन पर बैठने वाली इस विभूति के बारे में हमें दन्तकथाओं से भी सहायता लेनी ही पड़ेगी।

अशोक प्रतापी मौर्यवंश के स्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र थे। चन्द्रगुप्त ने ही उत्तर भारत के यूनानी शासक सेल्यूकस को न केवल भारतवर्ष से बाहर भगा दिया था, वरन् उसकी पुत्री से ब्याह भी कर लिया था। चन्द्रगुप्त ने ही मगध में नन्दवंश का नाश कर सिंहासन प्राप्त किया था। चन्द्रगुप्त ने अवसान के समय, लगभग ब्रिटिश भारत के बराबर एक बड़ा साम्राज्य अपने पुत्र बिंदुसार को भोगने के लिये छोड़ा था। चन्द्रगुप्त की अभूतपूर्व सफलताओं का बहुत बड़ा श्रेय भारत के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ "चाणक्य" नामक पण्डित को है। चाणक्य का नाम "कौटिल्य" भी था। इनका लिखा 'अर्थशास्त्र संसार का श्रेष्ट राजनीति-ग्रन्थ है।

अशोक जब आरम्भ में सिंहासन पर बैठे तो शायद वे अपने विस्तृत साम्राज्य के एक-एक अणु के घृणा के पात्र थे। कम से कम बौद्ध ग्रन्थों ने उनका ऐसा ही निरूपण किया है। संभव है अशोक के धर्म परिवर्तन की महता स्थापित करने के लिये ही ऐसा किया गया हो। कहते तो यह हैं कि अपने आज्ञा के पालन में जरा सा बिलम्ब देख कर उन्होंने अपने कई मन्त्रियों को अपने हाथों से मार डाला था। एक कथा है कि एक बार अपने रनिवास की ५०० स्त्रियों को इसलिये जीता आग में झोंक दिया कि वे उनके सामने अशोक वृक्ष की पत्तियाँ तोड़ रही थीं। सरल हृदया स्त्रियों को क्या मालूम था कि ऐसा करने से वे काल के मुख में जाने की तय्यारी कर रही हैं अशोक ने यह समझा कि वे स्त्रियाँ मुझे इसी प्रकार तोड़ कर नष्ट कर देना चाहती हैं। जातक कथा है कि अशोक ने सारे साम्राज्य में ढूँढ़ कर चन्द-गिरिक नामक एक अति निर्दय आदमी को वधिक का कार्य दिया। अशोक को दूसरों को रोते, कलपते और तड़पते देखने में जो पैशाचिक आनन्द आता था उससे कहीं ज्यादा आनन्द

चन्द्गिरिक को आता था। अशोक ने एक बहुत अच्छा महल बना रखा था, पर जो उसे अन्दर देखने जाता था, उसे चन्द्-गिरिक मार डालता था। एक बौद्ध साधु भूल से उसके अन्दर चला गया, इस पर चन्द्गिरिक ने उसे खौलते हुए तेल भरे कड़ाह में डाल दिया, पर उसने देखा कि वह बौद्ध एक कमल के फूल पर बैठा हुआ है। अशोक को जब यह खबर लगी तो वह दौड़ा हुआ आया। उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसने उसी दिन उस महल को धूल में मिला दिया। भिक्षुक से क्षमा मांगी और बौद्ध यात्री से ज्ञान की बातें पूछीं। अशोक का हृदय तब से ही पवित्र हो गया और उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और फलस्वरूप इस धर्म का प्रचार सारे साम्राज्य में होने लगा। अशोक के बौद्ध होने की इस कथा पर, उस महापुरुष की आगे चलकर प्रकट होने वाली महत्ता के सम्मुख लेशमात्र भी विश्वास नहीं होता।

अस्तु, अशोक जब सिंहासन पर बैठे तो उनको राज-काज का पर्य्याप्त अनुभव था। उनके पिता उन्हें कई प्रान्तों का आमात्य नियुक्त कर राज-शास्त्र का अनुभव करा चुके थे। गद्दी पर बैठने पर अशोक को दिग्विजय की सूझी और वे अपने पड़ोसी स्वतन्त्र राज्य कलिंग पर आक्रमण कर बैठे। कलिंग पर विजय भी प्राप्त की।

कलिंग पर विजय प्राप्त की, पर शायद यह ऐसी जीत थी जिस पर हार भी हंसती हो। सहस्रों का रक्त बहाया गया। नर-कंकालों से कलिंग को पाट दिया गया। कलिङ्ग का एक-एक व्यक्ति लड़ाई में किसी न किसी भांति अपना सर्वस्व गँवा चुका था। राज्य में हाहाकार मच गया।

अशोक महापुरुष था। उसकी अन्तरात्मा के भीतर सोती हुई करुणा ।कराह उठी। वह स्नेह तथा ममता से भर गया।

इस घटना ने उसके मस्तिष्क में जो पवित्र संकल्प भरे वे कभी न विचलित हुए। कलिङ्ग में मार काट तुरन्त बन्द करा दी और बन्दियों को मुक्त कर दिया। इस समय उसकी विचित्र मानसिक अवस्था हो रही थी। उसे शान्ति और अनुराग की कामना थी। उसने चारों ओर देखा पर कहीं भी शान्ति का नाम भी न मिला। अन्त में उन्हें महात्मा बुद्ध की शान्तिमयी गोद में आश्रय मिला। धीरे-धीरे उन्होंने अपना तन-मन-धन, सब प्राणियों के सुख और शान्ति के लिये अर्पण कर दिया। सम्राट अशोक अब एक प्रकार से सन्यासी अशोक हो गये। उन्होंने सब प्रकार के सुखों का परित्याग कर दिया। राज-दण्ड उनके हाथ में था—सिर्फ धर्म प्रचार के लिये। क्रमशः उनके प्रभाव से सारे साम्राज्य में बौद्ध धर्म का विकास होने लगा, यद्यपि अशोक ने किसी दूसरे धर्म का कभी निरादर नहीं किया।

प्रचार का क्षेत्र केवल भारतवर्ष तक ही सीमित न रहा। प्रचारक दूर-दूर तक भेजे गये। उनके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा के नेतृत्व में उपदेशकों का एक दल लंका गया। लंका में लोगों ने बौद्ध धर्म तुरत स्वीकार कर लिया। यहाँ प्रचारकों को ज्यादा कठिनाई न उठानी पड़ी। पहिले से भी वहाँ के राजा तिस्सा और अशोक में मैत्री थी और वे स्वयं अशोक के आदर्शों से सहमत थे। इसके सिवा महात्मा बुद्ध के महान् अनुयायियों के सत्संग का काफी प्रभाव लंका पर जम चुका था।

अशोक को अपनी प्रजा के आराम का बहुत ध्यान रहता था। उन्होंने सड़क के दोनों ओर छायेदार, घने वृक्ष लगाये ताकि राहियों को ग्रीष्म-ऋतु में अधिक कष्ट न उठाना पड़े। साथ ही साथ फल और फूलों के वृक्ष भी लगाये गये। थोड़ा-

थोड़ी दूरी पर सराय बनवायीं और गहरे-गहरे कुंए खुदवाये। औषधियों का अच्छा प्रबंध किया गया और इस बात का सदा प्रयत्न होता रहता था कि जड़ी बूटियाँ प्रजा को सरलता से मिलती रहें। नयी औषधियों की खोज हाती रहे। विद्या का प्रचार अत्यधिक हो।

अशोक ने कई ऐसे व्यक्तियों को भी नियुक्त किया था जो देश में जा-जाकर परोपकारी कार्य करते तथा गुप्त-रूप से यह देखते थे कि किसी के ऊपर अन्याय इत्यादि तो नहीं हो रहा है।

सारे साम्राज्य में शिकार खेलने पर प्रतिबंध लगा दिया गया यहाँ तक कि देवी देवताओं के लिये बलि करना भी अपराध समझा जाने लगा। इस पर ब्राह्मण लोग बिगड़ खड़े हुए। हो सकता है कि हिन्दू-धर्म में कुछ हस्तक्षेप के कारण ही, अशोक की मृत्यु के सौ वर्ष बाद ही मौर्य साम्राज्य नष्ट हो गया। शायद ब्राह्मणों के प्रति अशोक के भाव अच्छे नहीं थे। उन्होंने बलि का नियम तुड़वा दिया। ब्राह्मणों के साम्राज्य के कर्णधार बनने वाले अधिकार पर भी कुठाराघात किया गया। पहिले ऐसा नियम था कि जो व्यक्ति समाज के नियमों का उल्लंघन करता था, उसे ब्राह्मण कुछ दंड-व्यवस्था देते थे ताकि वह प्रायश्चित करके शुद्ध हो जावे। अशोक ने इस नियम को भी तोड़ दिया।

अशोक की दंड-व्यवस्था सब जातियों के लिये एक ही थी। उसके न्याय की चपेट से किसी वर्ण का आदमी नहीं बचता था। यह "मृच्छकटिक" नाटक से भी मालूम होता है। इस नाटक में एक ब्राह्मण दरबारी पर एक स्त्री की हत्या का आरोप लगाया जाता है यद्यपि न्यायाधीश उसे मृत्यु-दंड देने से हिचकता था, तथापि नियमानुकूल उसे प्राणदंड देना

पड़ा। बाद में उसके निरापराध सिद्ध होने पर, उसे छोड़ा जाता है, इत्यादि।

मुख्यतः इन्हीं कारणों से ब्राह्मण वर्ग धार्मिक रूप से असन्तुष्ट था। यद्यपि वे अशोक के जीवन काल में अपने षड्यन्त्र में नितान्त असफल रहे, पर उनकी मृत्यु के कई वर्षों के पश्चात्, जब मौर्य-साम्राज्य में निर्बल और अयोग्य राजा होने लगे, ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे साम्राज्य ही हजम कर लिया।

अशोक ने कई अत्यन्त मूल्यवान उपदेश स्तूपों और लाटों पर लिखवा दिये थे ताकि वे सदैव के लिये मानव जाति को ठीक मार्ग दिखा सकें। उसके अनमोल उपदेश सदैव के लिये वर्त्तमान रहेंगे और उन स्तूपों से अशोक के समय की सभ्यता तथा प्रगति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक अमूल्य साधन सदैव उपलब्ध रहेगा।

ऐसे कुछ मूल-मंत्र निम्नलिखित हैं जो खम्भों और स्तूपों में खुदे पाये गये हैं। १ जनवरों की बलि अनुचित है। २ मित्रों और भाई बिरादरी के प्रति नम्रता का व्यवहार करना चाहिये। ३. अहिंसा-व्रत का पालन करना चाहिये। ४. मितव्ययता एक बड़ा गुण है और झगड़ों का निपटारा आपस में ही करना चाहिये। ५. बीमारी के समय जो पूजा पाठ होते हैं, सब व्यर्थ हैं। शिक्षक ब्राह्मणों के प्रति सौम्य भाव रखना चाहिये। भृत्यों और दासों के प्रति अच्छे भाव रखना चाहिये। ऐसा आचरण अन्य पूजा-पाठों से कहीं उचित होगा। ६. धार्मिक सहनशीलता हरेक मनुष्य मात्रमें होनी चाहिये। उसे दूसरी जाति के मनुष्यों से घृणा नहीं करनी चाहिये। मनुष्य को असली तत्व को पहचानना चाहिये। ७. मनुष्य को यह भी देखना चाहिये कि वह क्या-क्या बुरे कार्य

करता है। उसे पहिले आत्म-परीक्षा करनी चाहिये। जब वह ऐसा सोचने लगेगा तो क्रोध और घमंड उससे छूट जावेंगे।
८. मन पर नियंत्रण करना और मन को शुद्ध रखना मनुष्य-मात्र का परम उद्देश्य होना चाहिये।

ऊपर लिखे मूल-मंत्रों में अशोक ने मनुष्य को अनमोल बात बतायी हैं। अगर मनुष्य इन नियमों का पालन कर सके, तो उसका निश्चय ही कल्याण होगा।

अशोक ने अपने जीवन में कई तीर्थ-यात्रायें भी की थीं। पाटलिपुत्र से रवाना होकर मुज़फ्फरपुर और चम्पारन होते हुए हिमालय की तराई तक गये। बीच में उन्होंने लोहे की लाटें स्मारक स्वरूप खड़ी करवायीं। फिर लुम्बिणी बन (जहाँ महात्मा बुद्ध अवतीर्ण हुए थे।) में एक लाट बनवायी। फिर कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती होते हुए बौद्ध गया पहुँचे। गया में ही बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था। सम्राट अशोक ने जगह-जगह पर स्मारक स्वरूप लाटें बनवायीं और ज्ञान-वितरण के लिये संस्थायें भी खोलीं। उपगुप्त सम्राट् के साथ इस यात्रा में पथ-प्रदर्शक थे।

कहा तो यह जाता है कि अशोक ने ८४ हज़ार के लगभग स्तूप बनवाये पर उतने ज्यादा बन सकना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्तूप तो महात्मा बुद्ध अथवा किसी साधु के स्मारक स्वरूप बनाये जाते थे। स्तूपों में सबसे बड़ा और महत्व-पूर्ण साँची का स्तूप है। इसके गुम्बद की परिधि १०६ फुट है और लम्बाई १४ फुट है। इन खंभों पर जो कला उस समय के कारीगरों ने दिखायी है, वह अद्भुत है। बखीरा और नवल-गढ़ के खंभे क्रमशः ६० फुट और ४० फुट ऊँचे हैं और सबके ऊपर एक सिंह की मूर्त्ति बनी है।।

भारत में विद्या के प्रचार के लिये जितना महान् कार्य अशोक ने किया, उतना संसार के और किसी सम्राट् ने नहीं किया। तक्षशिला का विद्यापीठ इनके शासनकाल में संसार का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था। कालपी ऐसे युक्तप्रान्त के केन्द्र-स्थानों में भी इनका विद्यालय भवन बना खड़ा है।

अस्तु, अशोक के शासनकाल में भारत ने हर दिशा में बड़ी उन्नति की। चारों ओर परम सुख और शान्ति विराज रही थी। प्रजा पूर्णत: संतुष्ट और प्रसन्न थी। बौद्धधर्म का बड़ा प्रचार हो रहा था। उत्तर पश्चिम में अफ़गानिस्तान तक के नरेश और दक्षिण के सभी शासक आपसे आप इनके साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे। भारत की सभ्यता तथा शिष्टता के संदेश-वाहक बौद्ध-साधु सुदूर चीन तथा जापान तक पहुँच गये थे।

भारत के भाग्य में इतना बड़ा साम्राज्य फिर कभी न आ सका। चालीस वर्ष शासन करने के उपरान्त, ईसा से २३२ वर्ष पहिले इनका देहान्त हुआ और कुछ दर्जन वर्षों में ही मौर्य साम्राज्य भी समाप्त हो गया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय

गुप्त साम्राज्य का शासन भारत के इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है। जितना वैभव, विकास तथा सम्मृद्धि भारतीय-समाज तथा सभ्यता ने इस युग में प्राप्त कर ली थी, उतनी वह आगे चलकर कभी न प्राप्त कर सका। हर्ष के समय में उसी वैभव की पुनः पुनरावृत्ति हुई थी पर वह एक क्षणिक उन्माद की तरह से ही शीघ्र ही दुरवस्था के क्षितिज में विलीन हो गयी।

गुप्त साम्राज्य का इतिहास हमारे सामने क्रमबद्ध रूप में प्राप्त है, और इसीलिये उस समय के उत्थान की कहानी हमें मालूम है। जब से भारत के इतिहास की रूपरेखा मिलनी शुरू होती है, उसी समय से अनुमान लगाकर इतिहासकार उस युगकी इतनी प्रशंसा करता है। ऐसी प्रशंसा से रामायण तथा महाभारत की अत्यंत उन्नत सभ्यता का दावा करने वाले समाज को नाराज़ नहीं होना चाहिये। गुप्त साम्राज्य को इतना महत्व देने के साथ यह कह देने से सफ़ाई हो जाती है

कि ईसा के बाद से, ईसवीय सन् के प्रारम्भ से जिस इतिहास का पता चलता है, उसके अनुसार गुप्त शासन-काल भारत के लिये स्वर्ण-युग था। निस्सन्देह मौर्य्य-साम्राज्य के समय भी हम बहुत ऊँचे पहुंच गये थे और गुप्त-वंश के शासकों के पास अशोक के युग के बराबर राज्य कभी न था। पर अशोक का साम्राज्य धर्म के डंके की चोट पर अफ़गानिस्तान से लेकर लंका तक फैल गया था और अशोक के बाद बालू की भीत की तरह टुकड़े-टुकड़े हो गया। गुप्त शासकों ने तलवार, संस्कृत तथा सुशासन के जोर पर ३०० वर्षों तक भारत पर अखंड राज्य किया।

इस वंश के उदय के साथ ही यूरोपीय राज्यों की तत्कालीन दुर्दशा का अद्भुत सामञ्जस्य है। रोम का शासन और उसके अखंड साम्राज्य को यूरोप की बबर जातियों ने टुकड़े-टुकड़े कर डाला था। वे जंगली समूचे यूरोप को रौंदकर लहूलुहान कर रहे थे और आज सर्वश्रेष्ठ सभ्यता का दम भरने वाला यूरोप उस समय जंगली हो रहा था। उसी समय भारत में सभ्यता की चरम सीमा पहुँच गयी थी। गुप्त साम्राज्य में साहित्य, कला, चित्रकारी, शिल्प-कला तथा मूर्ति निर्माण की कला बहुत ऊँचे पहुँच चुकी थी। इसी युग में हरीसेन नामक प्रसिद्ध काव्य-रचयिता तथा लेखक इस युग में वीर काव्य के सबसे बड़े निर्माता ने साहित्य की धारा बदल दी थी। यह लेखक तथा कवि सम्राट् समुद्रगुप्त के शासन-काल में पैदा हुआ था। समुद्रगुप्त स्वयं बड़ा गुणी संगीतज्ञ, गवैया, वीणा-प्रेमी तथा नाट्य प्रेमी था। नाटकों की रचना को इनके शासनकाल में बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। गुप्त शासनकाल में ही भारतीय-ज्योतिष, गणित तथा विज्ञान ने बड़ी उन्नति की। साम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में ब्रह्मगुप्त नाम का प्रसिद्ध वैज्ञानिक

अपनी नयी खोजों से संसार को चकित कर रहा था। इसी पंडित ने यह खोज निकाला था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रहती है और सूर्य की परिक्रमा इसी प्रकार करती है। इसी विद्वान ने यह महान वैज्ञानिक सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला था कि प्राकृतिक नियम के कारण ही सभी चीजें ऊपर से नीचे जमीन पर गिरती हैं। इसी को पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कहते हैं। इस सिद्धान्त का नाम है गुरुत्वाकर्षण और हमारी इस खोज के एक हजार वर्ष बाद यही बात इंग्लैण्ड में न्यूटन साहब ने ढूढ़ निकाली थी। यह दुर्भाग्य की बात है कि हम भारतीय अपने न्यूटन ब्रह्मगुप्त को नहीं जानते, विलायती न्यूटन से हम अच्छी तरह से परिचित हैं।

भर्तृहरि के नाम से सभी परिचित हैं। कहते हैं कि इनकी रचनाओं का समय भी यही था और इनके शृङ्गार-नीत-वैराग्य के अनोखे शतक इसी समय में लिखे गये थे। पर इस युग की सबसे महत्वपूर्ण उत्पत्ति हैं महाकवि कालिदास। बहुत खोज करने पर यही पता चलता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के दरबारी थे और जिन प्रसिद्ध नव-रत्नों की कथा हम सुनते हैं, वह इसी समय थे। कालिदास ने हमारे वाङ्मय को जो अद्भुत वरदान दिये हैं, वे संसार की अनूठी निधियाँ हैं। पर उसका रचनाकाल हमें ठीक तरह से मालूम नहीं। संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास की कृति है और यह गुप्त काल का वरदान है।

देश में सुख तथा समृद्धि होने पर ही साहित्य और शिल्प-कला आदि का उदय होता है। इसीलिये गुप्त शासनकाल में इन चीजों का अच्छा विकास हुआ था। गुप्त शासकों का वास्तविक प्राचीन इतिहास नहीं मिलता। यह अवश्य सिद्ध

हो चुका है कि वे क्षत्रिय थे। कट्टर वैष्णव थे पर वे बड़े उदार और सभी प्रचलित धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते थे। बौद्धों का इस समय तक काफी ह्रास हो चुका था पर इस ह्रास के कारणों में से गुप्त शासकों की कठोरता नहीं थी। उनकी गुणग्राहकता तथा सहिष्णुता तो इसीसे प्रकट है कि इस शासन काल के द्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति समुद्रगुप्त ने अपना प्रधान मंत्री वसुबन्धु नामक बौद्ध को बनाया था।

गुप्त साम्राज्य का पूर्ण उदय चन्द्रगुप्त नामक प्रतिभाशाली वीर के समय ईसवीय सन् ३२५ से हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के ही राज्य मगध में इनका शासन था और पाटलिपुत्र में लगभग सन् ३१८ में ये शासन करते थे। इस समय भारत कई छोटे-छोटे टुकड़े (राज्यों) में बँटा हुआ था और देश में एकछत्र तथा स्थायी शासन का अभाव था। चन्द्रगुप्त ने दिग्विजय की कल्पना की और इसके लिये बड़े अच्छे और और मजबूत सम्बन्ध स्थापित किये। प्रसिद्ध लिच्छवि वंश की कुमारदेवी से ब्याह किया। गंगा नदी के उर्वर प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। अवध, तिरहुत आदि प्रदेश इनके आधीन हो गये थे। संभवतः सन् ३३५ में इनका देहान्त हुआ और इनकी गद्दी पर वीरवर समुद्रगुप्त बैठे। समुद्रगुप्त ने समूचे भारत पर अपना सिक्का जमा लिया। मरने के समय इनके महान् पिता इनसे दिग्विजय का वचन ले चुके थे और वह वचन योग्य पुत्र ने पूरा किया था। उत्तर पश्चिम में काबुल तथा दक्षिण में लंका के नरेश ने इन्हें कर भेजा था। लंका के नरेश ने इनसे अनुमति लेकर भगवान बुद्ध के ज्ञान प्राप्त करने वाले स्थान गया में बौद्धों का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था। समुद्रगुप्त ने राजसूय यज्ञ भी किया था। इस वीर पुरुष को यदि भारत का नेपोलियन कहें तो अनुचित न होगा। उत्तर को एक सूत्र में बाँधने के

बाद, दक्षिण में इन्होंने समुद्रतटीय बिलासपुर तथा विजगा-पट्टम के बीच की जंगली जातियों को परास्त कर सुव्यवस्था स्थापित की थी। इनकी महत्ता का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि रोम के सम्राट ने भी इनसे सम्बन्ध स्थापित किया था। ईसवीय सन् ३७५ में (कुछ इतिहासकार सन् ३८० भी कहते हैं) अपने से भी अधिक सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के हाथ राज्य शासन को सौंप कर इन्होंने अपनी सांसारिक लीला समाप्त की।

इसी चन्द्रगुप्त को हमारे विक्रम सम्वत् का आविर्भावक कहा जाता है। विक्रमीय संवत्सर तथा ईसवीय सन् में ५७ वर्ष का अन्तर है तथा इस हिसाब से ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य को होना चाहिये था। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् के पूर्व मालव संवत् नाम से जो वर्ष चल रहा था, उसी को बदल कर विक्रम संवत् कर दिया गया। अपनी अभूतपूर्व दिग्विजयों तथा महान् शासन की यादगार में, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रम संवत् चालू किया होगा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय क्या वही विक्रमादित्य हैं जिसके विषय में अनेकों दन्तकथायें प्रचलित हैं। यह निश्चयपूर्वक कहना एक जटिल समस्या है, पर सम्भवतः यह गलत भी नहीं है क्योंकि वे पंचम शताब्दी में तर्कशास्त्र के बौद्ध विद्वान दिङ्नाग के समकालीन कहे गये हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाल्य-काल के विषय में तो कोई खास बात मालूम नहीं, अतएव आपका वास्तविक जीवन का परिचय राज्यारोहण से ही मिलता है। वे अपने पिता से कहीं अधिक उच्च अभिलाषायें तथा अदम्य साहस से युक्त थे। उन्होंने जिस योग्यता से ३८ वर्ष तक सफलता पूर्वक शासन किया वह सदैव इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णांकित रहेगा।

राज्य तिलक हुए कुछ ही काल व्यतीत हुए थे कि मथुर के शासक के साथ लोहा लेना पड़ा और वह इस युद्ध में सफल हुए। मथुरा की विजय से उनका साहस और भी बढ़ा। क्षत्रियं पर विजय प्राप्त करने के लिये पश्चिमीय भारत की ओर बढ़े मालवा, काठियावाड़ के प्रान्तों को जीतकर अपने राज्य सम्मिलित कर लिया। अनेक क्षत्रिय राजाओं को उन्हें क देना पड़ा तथा आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। बरार औ महाराष्ट्र उस समय बड़ी उन्नति पर थे। इनकी लालसा उन प्रान्त को भी प्राप्त करने के लिये उत्तेजित हो उठी। पर यहाँ शासक राजा वाकर के साथ युद्ध करना जलते अंगारे को हथेल पर रखना था। अतएव उन्होंने एक नीति से कार्य लिया अपनी सुशीला, सुन्दर तथा सर्वगुणों से युक्त पुत्री का परिणा संस्कार राजा वाकर के साथ कर दिया। इस प्रकार इतना बड़ प्रान्त उनके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

अब चन्द्रगुप्त द्वितीय अति शक्तिशाली हो चुके थे। गुजरा के बन्दरगाहों पर भी अपना आधिपत्य जमा कर इन्होंने बाहर देशों से भारतीयों का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जिससे भारत की धन की वृद्धि के साथ सा भारतीय संस्कृति भी बाहरी देशों में फैलने लगी। अभ इन युद्धों से विश्राम लिये उन्हें कुछ ही समय बीता थ कि शक ऐसी वीर विदेशी जाति से युद्ध करना पड़ा। विज लक्ष्मी ने इस बार भी उन्हीं का साथ दिया। इस विजय वे दिग्विजयी सम्राट् कहे जाने लगे तथा विक्रमादित्य की पदव से सुशोभित हुए। संस्कृत में उन्हें "शकारि" की पदवी द गई है। जिससे उनके इस विजय की बात सत्य प्रकट होती है

उपर्युक्त बातों से हम देखते हैं कि उनके राज्यकाल क प्रारम्भिक जीवन युद्ध में ही लगा रहा तथा सदैव वह पग प

पर सफल होते गये। उन्होंने ने केवल साम्राज्य की सीमा को बढ़ा कर भारत में अपना नाम अमर कर लिया बल्कि गुप्त साम्राज्य की नींव को पूर्ण रूप से दृढ़ कर दिया

ऊपर लिखी बातों से यह समझ लेना चाहिये कि उनका सम्पूर्ण जीवन युद्ध में ही बीता तथा राज्य के प्रबन्ध में कोई विशेष बात न हो सकी।

वे विजयी होने के साथ साथ सफल शासक भी थे। उनके समान सुन्दर शासन प्रबन्ध करनेवाले इतिहास में बिरले ही हुए हैं।

तत्कालीन सुन्दर राज्य प्रबन्ध का पता चीनी यात्री फाहियान के विवरण से लगता है। उसका कथन है कि "राज्य में चारों ओर सुख और शान्ति का राज्य था। प्रजा हर प्रकार से सुखी थी। कठिन दंडों तथा करों और अत्याचारों की मार से पूर्ण रूप से मुक्त थी। चोरी का नाम न था। लोग धर्मप्रिय तथा सत्यवादी थे। निर्धन को दान करना अमीरों का कर्त्तव्य था। अतिथि-सत्कार हरेक अपना धर्म समझता था। वैष्णव धर्म बड़ी उन्नति पर था। बौद्धधर्म की कोई विशेष प्रगति न थी। किन्तु फिर भी बौद्ध धर्म के उपासकों का सम्राट् आदर करता था तथा उन्हें सहायता देता। लोग सात्विक भोजन करते थे। तामसी भोजन करने वाले का समाज से बहिष्कार होता था। लहसुन प्याज तक खाने का निषेध था। हरेक पुरुष अपने कर्त्तव्यों से परिचित था सम्राट् प्रजा के सुख के लिये हर प्रकार के कार्य करता।" इतिहासकार विंसेंट स्मिथ का कहना है कि जो अस्पताल सम्राट् ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में बनवाये थे, वे संसार के बड़े से बड़े अस्पतालों से भी अच्छे थे। औषधालयों के सम्बन्ध में फाहियान के वर्णन से पता चलता है कि उस समय देश भर में वैश्य सम्प्रदाय ने निःशुल्क औषधालय खुलवा रक्खे थे जहाँ बड़ी अच्छी चिकित्सा होती

थी। पाटलिपुत्र के भव्य-भवन को देख कर सम्राट् की कला-प्रियता का पता सहज में ही लग जाता था। सम्राट् के स्वयं कला, साहित्य और संगीत के पुजारी होने से ही भारत इस दिशा में इतनी उन्नति के शिखर पर पहुंच गया था। साहित्य में तो मानों चार चाँद लग गये थे। रघुवंश, मेघदूत तथा शकुन्तला आदि के रचयिता महान कवि, संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास तथा औषधि के देवता धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, वैताल, वररुचि शाक्य और वाराभिहर ऐसे ऐसे धुरन्धर विद्वान तो उनके राज्य दरबार में नवरत्न थे। भारत में ही नहीं, संसार के इतिहास में एक साथ इतने विद्वान् किसी शासक को प्राप्त न हो सके।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि साम्राज्य सब सुखों और अच्छाइयों से परिपूर्ण हो चुका था। पथ-पथ पर उन्नति दृष्टि गोचर होती थी।

फाहियान सन् ४०५ में हिन्दूकुश के मार्ग से भारत आया था और ४११ में गंगा के मार्ग से वापस चला गया। उसकी विदाई के दो वर्ष बाद ही यानी ४१३ में विक्रमादित्य का देहान्त हो गया। उसके बाद कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि प्रतापी नरेश हुए पर गुप्त साम्राज्य अपने पूर्व वैभव को फिर कभी प्राप्त न कर सका। ईसवीय सन् ५०० में गुप्त साम्राज्य का नामो निशान न रह गया।

विक्रमादित्य के विषय में सोमदेव भट्ट रचित "कथा सरित्सागर" म जो सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमें से एक श्लोक को उद्धृत कर हम इस लेख को समाप्त करते हैं :—

स पिता पितृहीनानां, बन्धूनाञ्च स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नामवत् ॥

सम्राट हर्षवर्द्धन

गुप्त साम्राज्य का तारा डूब जाने के बाद भारत में पुनः अव्यवस्था छागयी और वह छोटे-छोटे राज्यों के टुकड़ों में बंट गया दक्षिण भारत में वल्लभी, चालुक्य, गुर्जर आदि राज्य विस्तार पा रहे थे और उत्तर में हूणों ने बार बार आक्रमण कर सभी छोटे राज्यों को जर्जर कर रखा था। हूणों का भारत पर प्रथम आक्रमण सन् ४८५ में हुआ पर वे भगा दिये गये। इसके बाद जब पुनः आक्रमण हुआ तो कोई उनकी आंधी को न रोक सका। उनका नेता तोरमान ४९९ में मालवा में जम गया। ५०२ में उसका प्रतापी पुत्र मिहिरकुल सिंहासन पर बैठा। इसने स्यालकोट (पंजाब) को अपनी राजधानी बनाया था। कुछ समय बाद हूण हिन्दू धर्म में मिल गये और यहां की जनता में एकदम घुलमिल गये।

ऐसे ही अव्यवस्थित युग में, सन् ५९० में हर्ष का जन्म हुआ। इनके पिता प्रभाकरवर्द्धन थानेसर नामक छोटे से राज्य के स्वामी थे। थानेसर दिल्ली से उत्तर एक पवित्र तीर्थ स्थान है।

सन् ६०४ में यकायक प्रभाकर का देहान्त हो गया और दो वर्ष बाद इनके उत्तराधिकारी हर्ष के बड़े भाई भी दुनिया से चल बसे। हर्ष की गद्दी पर बैठने की जरा भी इच्छा न थी पर आमात्यों के आग्रह पर १६ वर्ष की उम्र में ही वे नरेश बना दिये गये। अक्टूबर, सन् ६०६ में उनका राज्याभिषेक हुआ। भारत के यह अन्तिम महान हिन्दू सम्राट हुए हैं। इनके बाद हिन्दू युग का दीपक बुझ गया। यों तो सन् ६५० से १२०० तक यह दीपक कुछ न कुछ टिमटिमा रहा था तथा मराठा काल में इसमें कुछ प्रकाश आगया था, पर हर्ष ऐसे दिन फिर कभी न आये। यदि दक्षिण भारत में पुलिकेशिन द्वितीय नामक वीर चालुक्य नरेश के स्थान पर कोई अन्य दुर्बल शासक होता तो हर्ष का साम्राज्य अशोक के बराबर होता। पर पुलिकेशिन ने उसे दक्षिण में न बढ़ने दिया। हर्ष भी बौद्ध थे और कट्टर बौद्ध थे पर अशोक के समान इन्होंने तलवार चलाना नहीं बन्द किया था। लगातार ३० वर्ष तक युद्ध करके इन्होंने अपने साम्राज्य को मजबूत किया था। राजकाज स्वयं देखते थे। बराबर दौरा करते थे और राज्य पर कड़ी निगाह रखते थे। चीनी यात्री हुएनसांग हर्ष के समय भारत आया था। उससे हमें उस समय का पूरा समाचार वर्णन तथा निरूपण प्राप्त होता है। इनका कथन है कि गद्दी पर बैठने के पांच वर्ष बाद तक हर्ष को लगातार युद्ध ही करना पड़ा और न तो इस बीच में घोड़ों पर से जीन उतारी गयी और न हाथी पर से हौदे। इनके पास ५००० हाथी, २०,००० घोड़े, ५०,००० पैदल सिपाही थे। इसी विशाल सेना की बदौलत सन् ६१२ तक बिहार और बंगाल भी इनके आधीन होगया और इसी वर्ष इनका वास्तविक राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ हुआ। हर्ष के राज्य की सीमा नर्मदा नदी के आगे न बढ़ सकी पर जितना भी राज्य था, सुखी और समृद्ध था। गंगा तट

पर कन्नौज को हर्ष ने अपनी राजधानी के लिये चुना। यह नगर उनके समय में उन्नति कर चार मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा हो गया था। उच्च अट्टालिकायें तथा तालाब और सुरम्य उपवन तथा विहार बने हुए थे। हर्ष के समय में ही वहां सैकड़ों बौद्ध विहार तथा हिन्दू मन्दिर बन गये। स्मरण रहे कि सोलहवीं शताब्दि में शेरशाह सूर ने इस नगर को एक दम ध्वंस कर डाला था।

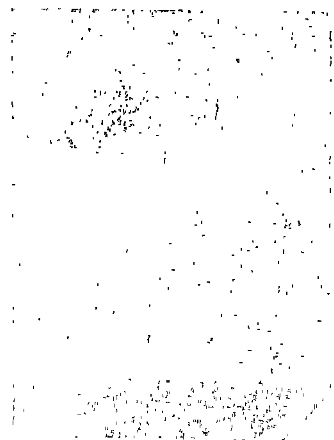
हुएनसांग के वर्णन के अनुसार राज्य का शासन बड़ा आदर्श था। राजा स्वयं तो निरंतर यात्रा करके (बरसात छोड़-कर) पूरा राजकाज देखते थे पर कुछ प्रान्त राजाओं के भी आधीन थे जो हर्ष का आधिपत्य स्वीकार करते थे। प्रान्तीय अफसर भी होते थे और वे सरकारी कागजातों को बड़ी हिफाजत से रखते थे। सभी काम लिखा पढ़ी द्वारा होता था। विद्या का बड़ा प्रचार था और उस समय सबसे विख्यात विश्व विद्यालय मगध में नालन्दा का कालेज था। हर्ष स्वयं बड़े भारी पण्डित थे और बाण नामक महाकवि इनके बड़े मित्र थे। बाण के "हर्ष चरितम्" से हमें इस महापुरुष के विषय में बहुत कुछ मालूम हो जाता है। इन्हीं दिनों हुएनसांग नामक बौद्ध अपने चीनी सम्राट की आज्ञा की अवहेलना कर भारत में भ्रमण करने आये थे और अक्टूबर ६३० में वे भारत पहुँचे। सन् ६३० से सन् ६४३ तक इस यात्री ने भारत का प्रायः हरेक कोना छान डाला। हर्ष ने इनका बड़ा आदर सत्कार किया था।

हर्ष पहले शैव थे पर क्रमशः बौद्ध धर्म के प्रति उनकी अनुरक्ति बढ़ती गयी और वे परम बौद्ध हो गये। साथ ही वे शंकर तथा सूर्य की उपासना का भी समर्थन करते थे और धर्म प्रचार के जोश में वे खाना पीना भी भूल जाते थे। राज्य में आहार के लिये पशु हत्या एक दम समाप्त कर दी गयी। सदाचार अथवा राज्य अनुशासन के विरुद्ध काम करने वालों को कठोरतम दंड

मिलता था। जो जेल चला गया वह फिर शायद जीता बाहर निकलता था। चोरी आदि के अपराध में हाथ पैर काट लिये जाते थे। इन पाशविक नियमों से एक लाभ भी हुआ था। राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित होगयी और फाहियान और ह्वेनसांग के वर्णनों को मिलाने से प्रकट होता है कि हर्ष के समय वैसी ही समृद्धि तथा शान्ति थी जैसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के समय।

धार्मिक विचार विनिमय के लिये हर पाँचवें वर्ष हर्ष प्रयाग या कन्नौज में महासभा करते। यहाँ पर बड़े बड़े विद्वान् एकत्रित होकर धार्मिक गूढ़ तत्वों का निरूपण करते। राजा भी अपनी पाँच वर्ष की एकत्रित धनराशि को दरिद्र व साधुओं में खुले हाथों बाँट देते।

किन्तु, ऐसा महान नरेश हिन्दुओं का कोप-भाजन बन गया। बौद्धों के प्रति विशेष पक्षपात के कारण हिन्दू रुष्ट से हो चले थे। अन्त में इन्हीं के एक ब्राह्मण मंत्री ने सन् ६४६ में, या ६४७ में इनकी हत्याकर डाली। इस समय हर्ष की उम्र केवल ४८ वर्ष की थी। भारत का भाग्य लुट गया और जो लुटा तो फिर अभी तक न लौटा।



अकबर महान

ईसवीय सन् १५२६ में पानीपत के रणक्षेत्र में इब्राहीम लोधी की विशाल सेना को परास्त कर बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव स्थापित की थी। २६ दिसम्बर, १५३० में, आगरा में इनकी मृत्यु हो गयी। इनके ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठे। इस वीर, दयालु निर्भीक, दूसरों में विश्वास करने वाले व्यक्ति में यदि कोई अवगुण था तो आलस्य। उनकी इसी आलस्य वृत्ति का लाभ उठा कर वीर शेरशाह सूर ने बंगाल तथा बिहार पर आधिपत्य जमा लिया। इस वीर, चतुर तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के कट्टर समर्थक और शासन सुधारक व्यक्ति ने हुमायूँ को चैन से न रहने दिया। हुमायूँ के भाइयों ने भी सर उठाया था। फलतः विपत्ति के मारे हुमायूँ ने अपनी बी

हमीदाबानू तथा कुछ साथियों को लेकर दर दर की ठोकरें खानी शुरू कीं।

उधर शेरशाह ने उत्तर भारत को बड़े योग्य शासनसूत्र में बाँध दिया। उसकी सेना में १,५०,००० घोड़े, २५,००० पैदल सिपाही तथा ५००० हाथी थे। उसने एक नयी दिल्ली ही बसा डाली तथा पंजाब में रोहतक नगर बसाया। आज जिसे हम लोग कलकत्ता से लाहौर जाने वाली ग्रैंड ट्रंक रोड कहते हैं, तथा जिसका असली सूत्रपात्र अशोक के समय से हुआ था, उसका भी वास्तविक निर्माण शेरशाह ने किया और इस प्रकार उसके समूचे राज्य में आवागमन की बड़ी सुविधा हो गयी। कुछ वर्षों बाद अकबर ने अपने कुशल भू-प्रबन्धक टोडरमल के द्वारा जिस काम की पूर्ति की थी, वह भी शेरशाह की ही प्रतिभा का परिणाम था और यह कार्य था ज़मीन की नाप कराकर निश्चित सरकारी मालगुज़ारी तय कर देना।

जिन दिनों शेरशाह अपने शासन का पाया जनता के सुख की नींव पर मज़बूत कर रहे थे हुमायूँ इधर उधर भटकते अमरकोट के क़िले पहुँचे। यहीं पर, २३ नवम्बर १५४२ को अकबर का जन्म हुआ। इस समय हुमायूँ इतने बड़े कंगाल हो रहे थे कि उनके पास अपने अनुयायियों को पुत्र-रत्न तथा युवराज के उत्पन्न होने ख़ुशी में कुछ बाँटने को भी न था। कहते हैं कि दिल्ली के इस फ़क़ीर बादशाह के पास केवल थोड़ा सा कपूर निकला। उसे ही उन्होंने सब अनुयायियों में बाँट दिया और उसकी सुगन्ध हवा में भर गयी। हुमायूँ के सरदारों ने प्रसन्न मन से कहा कि जिस तरह इस कपूर की सुगन्धि चारों ओर फैल गयी है, उसी तरह इस शाहज़ादा का यश सारी दुनियां में फैले। अकबर का यश वास्तव में संसार में फैल गया।

अकबर के जन्म के तीन वर्ष बाद ही शेरशाह की मृत्यु हो गयी और उनकी जगह इस्लाम शाह गद्दी पर बैठे। १५५३ में वह भी मर गये और मुहम्मद आदिलशाह तख्तनशीन हुए। शेरशाह के कुल का अन्त समय आ पहुँचा था और गद्दी के कई हक़दार खड़े हो गये। इसी समय, अनेक स्थानों की ठोकर खाया हुआ हुमायूँ दिल्ली पर चढ़ बैठा और जून, १५५५ में अपनी गद्दी वापस ले ली। पर, आठ महीने भी राज्य सुख न भोगने के बाद यह अभागा बादशाह, जनवरी १५५६ में संसार से चल बसा।

१३ वर्ष की भोली उम्र में ही अकबर गद्दी पर बैठे। उनका सौतेला भाई मुहम्मद हकीम ११ वर्ष का ही था। छोटे भाई के सुपुर्द काबुल का राज्य रहा सन् १५८० में अकबर ने हकीम को दिल्ली की हुकूमत न मानने के अपराध में काबुल में परास्त कर उसे अपने राज्य में मिला लिया था। सन् १५८२ में हकीम की मृत्यु हो गयी। पर कुछ और वर्षों तक हिन्दुस्तान की मातहती में नाममात्र रहने के बाद अफगानिस्तान तो स्वतन्त्र हो गया पर भारतवर्ष पर मुगलों का फौलादी पंजा मजबूत करने के साथ ही, उनके हृदय में भी सैकड़ों वर्षों तक आधिपत्य बनाये रखने का महान कार्य हमारे चरितनायक ने ही किया।

जिस समय हुमायूँ की मृत्यु हुई थी, अकबर अपने अभिभावक बैरामखाँ (तुर्क) के साथ शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर का पीछा करने में लगे हुए थे। किसी तरह उनके पिता की मृत्यु का समाचार छिपा कर रखा गया ताकि अकबर पंजाब से लौटकर शान्तिपूर्वक गद्दी पर बैठ जाय और कोई उपद्रव न हो। अकबर गद्दी पर बैठे और बैरामखाँ उनके संरक्षक होगये।

पर इस बाल नरेश के विरुद्ध चारों ओर विपत्ति ही थी। हुमायूँ सल्तनत का पाया बिना मजबूत किये ही संसार से चल बसे थे। शेरशाह के उत्तराधिकारी बादशाह आदिल और शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर का हमला होगया और आदिल के चतुर सेनानायक हेमू वैश्य ने आगरा तथा दिल्ली पर भी क़ब्ज़ा कर लिया और अब वह अपने मालिक को भूलकर, अपने को ही सम्राट समझने लगा था; पानीपत के मैदान में, बाबर की प्रसिद्ध विजय के ठीक ३० वर्ष बाद, फिर घनघोर युद्ध हुआ जिसमें बालक अकबर भी बड़ी वीरता से लड़ा। ५ नवम्बर, १५५६ ई० इस युद्ध में हेमू घायल होगया और बैरामखाँ के कहने से अकबर ने उसे बेहोशी की हालत में ही क़त्ल कर डाला। दिल्ली तथा आगरा पर फ़तह पाने में देर न लगी। सिकन्दरसूर ने आत्म-समर्पण कर दिया और उसे एक जागीर मिल गयी। आदिल बंगाल भागे और वहीं मार डाले गये। फिर क्या था, सन् १५५८-६० के भीतर बड़ी शीघ्रता के साथ, बैरामखाँ के प्रयत्न से तथा अकबर की बालसुलभ बुद्धिमत्ता से मुग़ल सल्तनत मजबूत कर ली गयी। किन्तु, अकबर ऐसे प्रतिभाशाली के लिये बैरामखाँ का पिछलगुआ बनकर रहना असम्भव था। उन्हें बैराम का अद्भुत महत्व खलने लगा और सन् १५६० में, बैराम के अनगिनत शत्रुओं के बहकाने पर, उन्हें पद से हटाकर राज्यकाज स्वयं सम्हालने का विचार घोषित कर दिया। बैरामको मक्का की तीर्थ यात्रा करने का आज्ञा मिली। पहले तो बैराम ने शान्तिपूर्वक आज्ञा शिरोधार्य की पर कुछ के बहकाने में आकर वे भी पंजाब पहुँच कर बग़ावत कर बैठे। पर, वह हार गये। फिर भी, अकबर ने क्षमा कर दिया और मक्का जाने की इजाजत दे दी। जनवरी, १५६१ में उनके एक निजी शत्रु ने गुजरात के पाटन नामक स्थान में उनकी हत्या कर

डाली। इस घटना के दो वर्ष बाद अकबर स्वतन्त्र रूप से अपना कारबार सम्हालने लगे।

अकबर की प्रखर बुद्धि ने यह देख लिया था कि हिन्दुस्तान की हुकूमत के लिये यह जरूरी है कि हिन्दू और मुसलमान समान रूप से प्रसन्न रहें तथा धार्मिक एकता और स्वतन्त्रता स्थापित हो। इसी विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिये इन्होंने १५६२ में, जयपुर नरेश बिहारीमल की पुत्री जोधा-बाई से विवाह किया। इस महिला को अपना धर्म पालन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और राजमहल में एक हिन्दू मन्दिर स्थापित हो गया। अकबर के बनवाये आगरा के किले में या फतेहपुर सीकरी में जोधाबाई के महल में यह हिन्दू भाग स्पष्टतः देखा जा सकता है। इस विवाह से हिन्दू और मुसलमान समान रूप से बिगड़ खड़े हुए थे पर साहसी युवक ने एक अनोखा काम कर दिखाया था।

अकबर में गुण अवगुण समान मात्रा में थे। १६ वर्ष की उम्र से लेकर २२ वर्ष तक वे या तो अपना माँ या धाय या उनके रिश्तेदारों के कहने में रहे। जब पूर्ण स्वतन्त्र हुए तो उनकी अद्‌भुत महत्वकांक्षा ने उचित-अनुचित सभी काम कर डाले। हरेक स्वतन्त्र शासक की स्वधीनता छीनकर उसे मुगल झंडे के नीचे लाने के लिये न्याय अन्याय कुछ भी न देखते थे। उनका यह कथन था कि "हरेक नरेश को निरन्तर युद्ध और विजय प्राप्त करना चाहिये।" अपना महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिये उन्होंने मध्यप्रान्त के गोंडवानों की रानी दुर्गावती तथा मेवाड़ नरेश प्रतापसिंह पर बड़े बड़े अत्याचार किये पर, २७ वर्ष तक लगातार युद्ध करने के बाद भी प्रताप न झुके और गोंडवाना की रानी दुर्गावती ने बचाव का कोई उपाय न देखकर छाती में कटार मार कर आत्महत्या कर ली। अकबर की सेना में

जयपुर नरेश मानसिंह तथा राजा भगवानदास और कई एक सूबेदार आसफ़ खां ऐसे बड़े योग्य सेनापति थे। अहमद नगर की सुल्ताना चांद बीबी ने मुग़लों को नाकों चने चबवाये थे। पर अन्त में सन् १६०० में वह मारी गयी। अकबर ने स्वयं बहुत सी लड़ाइयों का संचालन किया और रणक्षेत्र से वास्तविक विश्राम सन् १५७६ में बंगाल पर विजय प्राप्त करने पर ही लिया। मानसिंह, आसफ़अली, अब्दुर्रहीम आदि इनके कुशल सेनापति थे। मुग़ल साम्राज्य के विस्तार का श्रेय इन सबको है यद्यपि बाबरकाल ऐसे कुशल सेनापतियों ने भी बड़ी लड़ाइयां जीती थीं। अस्तु, सन् १५६९ में चित्तौड़ पर मुग़ल झंडा फहराने लगा सन् १५७२ में गुजरात भी दिल्ली के आधीन हो गया। मुग़ल सल्तनत समुद्र के किनारे तक पहुँच गयी और व्यापार का मार्ग खुल गया। मुग़ल तथा पुर्तगीज़ व्यापारियों का यह पहला सम्पर्क था। कैम्बे में अकबर ने पहले पहल पुर्तगीज रोज़गारियों को देखा और यूरोपीय ईसाइयों का इनका यही साक्षात्कार हुआ। ईसाई मज़हब के प्रति इनमें बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई। धार्मिक तत्वविवेचन तथा धार्मिक जिज्ञासा अकबर का बड़ा भारी गुण था। इन्होंने ईसाई धर्म समझने के लिये गोआ से दो पादरी बुलवाये और २७ फ़रवरी, १५८० में ये पादरी फतेहपुर सीकरी पहुँचे थे। यहाँ इनकी बड़ी ख़ातिर हुई और बादशाह ने अपने छोटे लड़के मुराद को, जिसकी उम्र १० वर्ष की ही थी, पुर्त्तगीज़ भाषा तथा ईसाई आचार-शास्त्र सीखने की हिदायत दी।

अकबर कलाकार थे, काव्य तथा साहित्य के प्रेमी थे। स्वयं निरक्षर और अपढ़ होते हुए भी इस महान व्यक्ति में ऐसी समझ थी कि विद्या का आनन्द दूसरों से पुस्तकें पढ़वाकर प्राप्त कर लेते थे। पण्डित तथा विद्वानों का साथ इन्हें बड़ा प्रिय था। धार्मिक विषयों में वादाविवाद सुनने तथा समझने की बड़ी

उत्कण्ठा रहती थी। प्रायः सम्राट् अपने सामने मौलवियों को बुलाते और वे इस्लाम धर्म के तत्वों पर गूढ़ तर्क वितर्क करते। इसके बाद अन्य धर्म वाले भी आते और अपने धर्मों पर भाषण देते या उनसे वादाविवाद होता। सब धर्मों में तात्विक एकता का सिद्धान्त अकबर की ही सूझ है और सबको धार्मिक स्वतन्त्रता देने का इनका क़ानून "सुलह-कुल" धीरे-धीरे यूरोप तक पहुँचा और वहाँ भी ईसाइयों की एक महती सभा में सब धर्मों की तात्विक एकता तथा ईसाई मजहब के भीतर फैले हुए सम्प्रदायों के पारस्परिक ऐक्य का प्रस्ताव एक धर्म महासभा में पास हुआ था। धार्मिक विवेचन के लिये ही अकबर ने फ़तेहपुर सीकरी के अपने विशाल भवन में एक "उपासना गृह" बनवाया था जिसे 'इबादत खाना' कहते थे। सन् १५८२ तक यहाँ नियमित रूप से धार्मिक बहसें होती रहीं। इसी वर्ष अकबर ने 'दीन इलाही" का प्रचार किया और स्वयं इस नये धर्म के पैग़म्बर बन गये। इस नये धर्म में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी सभी धर्मों के आधार पर धार्मिक फ़रमान जारी होते रहे और बाहरी आडम्बरों के स्थान पर सदाचार तथा नैतिकता को अधिक महत्व दिया गया था। हुक्म हुआ कि कोई अपने बच्चे का नाम मुहम्मद न रखे, अगर यह नाम रखा हो तो उसे बदल दे। जिस तरह प्रार्थना में मुसलमान सिजदा करते हैं, वही बादशाह के लिये भी करना होगा। अरबी पढ़ना जरूरी नहीं है। प्याज या गोमांस खाना मना है। सूरज, आग और प्रकाश की पूजा होनी चाहिये। गोश्त खाने वालों को कौनसा गोश्त खाना चाहिये और कौन नहीं। इत्यादि। ये नियम ऐसे विचित्र थे और "दीन इलाही" सब धर्मों की ऐसी खिचड़ी था कि अकबर ऐसा महान और लोकप्रिय बादशाह ही इसका प्रचार कर सकता था और प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ

का यह कथन सत्य है कि "यदि ऐसा धार्मिक हस्तक्षेप ब्रिटिश सरकार करे तो एक सप्ताह भी भारत में नहीं टिक सकती।" अकबर तो हिन्दुओं जैसा तिलक भी लगाने लगे थे। गोकुशी बन्द कराने के सम्बन्ध में एक रोचक कथा बतलायी जाती है। कहते हैं कि हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि नरहरि बादशाह के साथ प्रायः रहा करते थे। एक बार वे उनके साथ आखेट पर गये। जंगल में बादशाह ने देखा कि सब जानवर उन्हें देखकर डरकर भाग रहे हैं पर गायें उनके सामने बढ़ी चली आरही हैं। वे आश्चर्य में पड़ गये। कवि नरहरि ने तुरन्त उत्तर दिया कि ये गायें आपके सामने यह कहने आयी हैं :—

अरिहु दन्त तिनु धरै, ताहि न मारि सकत कोई,
हम सन्तत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होई।
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभनि जावहिं,
हिन्दुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं।
कह कवि नरहरि अकबर सुनो, बिनवत गौ जोरे करन,
अपराध कौन मोहि मारियतु, मुयहु चाम सेवत चरन।

कहते हैं कि यह सुनकर अकबर ने तुरन्त गो हत्या बन्द करवा दी। पर, दीन-इलाही ऐसा धर्म उस राजा के शासन काल में ही चला सकता है। जहाँगीर ने अपने पिता की गद्दी पर बैठकर पहले इस धर्म पर ही कुठाराघात किया था। किन्तु, अकबर ने दीन इलाही ही नहीं चलाया। बाल विवाह को रोकने में उन्हें सफलता मिली। सती प्रथा भी कम हो गयी, पर बन्द न हो सकी।

अकबर को अच्छी इमारतें बनवाने का बड़ा शौक़ था। आगरा का क़िला सन् १५६५ में बनना शुरू हुआ। बंगाल, गुजरात तथा दूर दूर के कलाकार इस काम के लिये बुलाये

गये थे शाहजहाँ के ताजमहल को छोड़कर अकबर की इमारतें मुग़लकालीन इमारतों में श्रेष्ठ हैं। आगरा में अकबर के दो बच्चे शैशवावस्था में ही मर गये। अतएव वे शहर को ही मनहूस समझने लगे। इसी समय सीकरी के चट्टानों में सलीम चिश्ती नामक एक फ़क़ीर रहता था। इसने अकबर को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे तीन बच्चे जिन्दा रहेंगे। बादशाह ने फ़क़ीर की छत्रछाया में रहने का निश्चय कर वहीं पर महान राज भवन बनवाना शुरू किया और लगभग सन् १५७५ में यह कार्य समाप्त हुआ। इसमें जोधाबाई का महल अलग है, तो बीरबल का महल और अबुलफ़ज़ल नामक अकबर के विद्वान साथी का मकान अलग। अगस्त, १५६९ में अकबर का प्रथम पुत्र सलीम, जो आगे चलकर जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, पैदा हुआ। सन् १५७०-७१ से बादशाह वहीं रहने लगे। १५७३ में गुजरात की विजय के बाद सीकरी का नाम फ़तेहपुर सीकरी हो गया। सन् १५८५ तक अकबर का यही निवास स्थान था। इसके बाद वे फिर वहाँ सन् १६०१ में एक बार आये थे। सलीम चिश्ती फ़क़ीर का मक़बरा दर्शनीय स्थान है। हरसाल हज़ारों मुस्लिम औरतें वहाँ जाकर पूजा करती हैं और संतान की कामना लेकर फ़क़ीर की सोयी हुई आत्मा से दुआ माँगती हैं।

हम ऊपर लिख आये हैं कि अकबर विद्या का प्रेमी था। इसका परम मित्र अबुलफ़ज़ल था जिसने "आईने अकबरी" द्वारा हमें इस युग का पूरा इतिहास बतला दिया है। युवराज सलीम ने जब पिता के विरुद्ध बग़ावत की तो अबुलफ़ज़ल को मरवा डाला। इस हत्या से अकबर के दिल पर गहरी चोट लगी थी। इनके एक दूसरे दरबारी तथा बड़े योग्य शासक व सेनापति बीरबल थे। यह बड़ी प्रखर बुद्धि के

व्यक्ति थे और इनके विषय में आज हजारों कथायें हमारे देश में प्रचलित हैं। इनकी मृत्यु से दुःखित होकर अकबर ने एक हिन्दी में दोहा बनाया था:—

सब कुछ हम कँह दीन, एक न दीनों दुसह दुख,
सो अब हम कँह दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल।

इनके दूसरे दरबारी का नाम है फैजी, जिन्होंने रामयण, भगवद्गीता महाभारत आदि का फारसी में अनुवाद किया था। चौथे प्रधान दरबारी राजा टोडरमल ने मालगुजारी का प्रबन्ध व्यवस्थित किया था। जमीन की पैमाइश कराकर पिछले दस वर्ष की पैदावार का हिसाब लगाया गया। उसी हिसाब से औसत निकाल ली गयी। उसका एक तिहाई भाग लगान लिया जाता था। इस मुहकमे का अंधेर खाता बन्द हो गया। तानसेन भी अकबर के प्रमुख दरबारियों में से थे। कहते हैं कि पिछले एक हजार वर्ष में, बैजू बावरा नामक उनके गुरू के बाद, वही सबसे बड़े गवैया थे। इनके विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है:—

बिधिना यह जिय जानि कै, शेषहिं दिये न कान,
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान।

अस्तु, अकबर का शासन बहुत ही अच्छी तरह से संगठित था। १८ सूबों में राज्य विभाजित था। हर सूबे का अफसर सूबेदार कहलाता था। हर एक सूबा सरकार और परगनों में बंटा था। हर जगह काजी होते थे जो न्याय करते थे। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल होते थे जो बाजार भाव तथा नापतौल की देख रेख करते और पुलिस का प्रबन्ध करते थे। चोरी आदि पर कठोर दंड दिया जाता था। राज्य में अमन चैन था।

अकबर कुछ विलासी भी था। "मीना बाजार" के बारे में यही कहा जाता है कि आगरा क़िला में औरतों से बाजार लगवा कर अकबर बड़े बड़े सरदारों की औरतों को बहका लेता था। पर दूसरा पक्ष यह भी कहता है कि वह बाजार केवल कला तथा गृह-उद्योग की प्रगति और विकास में प्रोत्साहन देने के लिये था विलासी होने पर भी अकबर को सादा लिबास तथा सादगी पसंद थी। उसी की इच्छा के अनुसार आगरा में उसकी क़ब्र सादगी का नमूना है।

अकबर की महानता तथा शासन की प्रतिभा से पूरा परिचय प्राप्त करने का यह स्थान नहीं है। उनके जीवन में घटायें उठीं, पर सब छट गयीं। अकाल पड़े पर पुनः सुख और वैभव फैल गया। युवराज सलीम ने पिता की लम्बी उम्र से घबड़ा कर सन् १६०० में बलवा कर दिया और इलाहाबाद में बादशाह बन बैठा। सन् १६०४ में अकबर ने उसे क्षमा कर दिया। पर, पिता के विरुद्ध बलवा करने का जो श्रीगणेश सलीम ने किया था, वही आगे चलकर उसके विरुद्ध शाहजहाँ ने और शाहजहाँ के विरुद्ध औरंगजेब ने और उसके बाद उनके बेटों ने जारी रखा और यही पाप मुग़ल साम्राज्य को खा गया। अकबर का मँझला बेटा मुराद १६०० में और सबसे छोटा बेटा दानियाल सन् १६०५ में मर गया। दोनों ही कट्टर शराबी थे। पर, इस महापुरुष ने धैर्य पूर्वक ये घाव बुढ़ापे में सहे। उसका एक मात्र पुत्र सलीम ही बचा रह गया था।

सन् १५६५ से १५६८ तक भारतवर्ष में, खासकर काश्मीर में भयंकर अकाल पड़ा पर किसी प्रकार अकबर ने बेड़ा पार लगा ही लिया। ४० वर्ष तक लगातार युद्ध करने के बाद उसने मुग़ल साम्राज्य को संसार का तत्कालीन सर्वशक्तिशाली राज्य

बना दिया उनके "दीन इलाही के कट्टर मुसलमान सख्त नाराज़ थे पर बादशाह ने उनका विप्लव दबा दिया। हिन्दी में कविता की धारा उन्हीं के सामने बह चली। हिन्दुओं को मुख्य और शान्ति मिली तथा राज्य में अमन चैन छा गया। इसी प्रकार, एक अत्यन्त उपयोगी तथा महान् जीवन पार कर, सितम्बर, १६०५ वे संसार से चल बसे।



महाराणा प्रताप

युवक सम्राट अकबर ने यह भली प्रकार से समझ लिया था कि भारत पर अखंड मुगल राज्य स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि समूची वीर राजपूत जाति उनसे मिल जावे। इसीलिये राजपूतों से रोटी-बेटी का सम्बन्ध वे स्थापित कर रहे

त्र और अलग बैठा रहा। इनका घमंड चूर करने के लिये मुगल सेना चित्तौड़ पर चढ़ बैठी। पर यहाँ के राणा उदयसिंह कमजोर दिल के शासक थे। उनमें राजपूत सुलभ वीरता न थी। वे भाग कर अर्वली पर्वतमाला में छिप गये अपने मन्त्री जैमल को किले की रक्षा के लिये भेज दिया। उदयसिंह ने पर्वतमाला में अपने लिये उदयपुर नामक नगर बसा लिया।

वीर जयमल वीरतापूर्वक लड़ा और खूब लड़ा। पर, एक रात जब वह मसाल लिये अपने किले की मरम्मत करवा रहा था, अकबर ने ऐसी गोली मारी कि यह योद्धा वहीं ठंडा हो गया। जैमल की मृत्यु से राजपूतों की कमर टूट गयी। उनका कोई नेता ही न रह गया। प्राणों पर खेलकर वे किले के बाहर निकल आये और युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए। सन् १५६६ में अकबर का चित्तौड़ पर अधिकार हो गया। चित्तौड़ के पतन के बाद रणथंभोर का क़िला हाथ में आने में कितनी देर लगती। अतएव इन दोनों विजयों से मुगल सम्राट की धाक समूचे राजपूतों में जम गयी।

सन् १५७० में उदयसिंह की मृत्यु हो गयी और उनकी गद्दी पर उनका पुत्र जैमल बैठा। पिता के इस लाड़ले बेटे में कोई गुण न थे अतएव प्रजा ने इसका विरोध किया। जैमल गद्दी से उतारे गये और उनके स्थान पर उदयसिंह के दूसरे पुत्र यशस्वी राणा प्रतापसिंह मेवाड़ के नरेश हुए। प्रताप का एक छोटा भाई था, शक्तसिंह। मातुल्रा ने इसे गोद ले लिया था पर जब उसे पुत्र उत्पन्न हो गया तो वह शक्त का अनादर करने लगा था। प्रताप को जब यह विदित हुआ तो उन्होंने उसे अपने यहाँ बुलवा लिया।

एक समय प्रताप तथा शक्त दोनों एक साथ शिकार खेलने गये। घनघोर जंगल में एक सूअर पर दोनों ने ही बर्छी चलाया। जब मरे हुए सूअर के पास पहुँचे तो उसके शरीर में एक ही घाव था: बस, इसी पर तर्क छिड़ गया कि किसकी बर्छी से वह मरा। तलवारें निकल गयीं। इसी समय इनके कुल का पुरोहित वृद्ध पण्डित भी वहाँ आ पहुँचा और उसने झगड़ा शान्त कराना चाहा। पर, दोनों में से एक ने भी उसकी न सुनी। दुखी होकर उसने वहीं आत्महत्या कर ली। इस घटना से दोनों भाई बड़े

दुखी हुए और परस्पर युद्ध बन्द कर दिया पर प्रताप को शक्त की उद्दण्डता अच्छी न लगी थी। उन्होंने उसे अपने राज्य से निकाल दिया। अपमानित शक्त ने भाई से बदला लेने की प्रतिज्ञा की और मुगलों की शरण में चले गये। यह घटना एक प्रकार से विभीषण जैसी ही थी।

मेवाड़ में उस समय वैभव लुप्त हो चुका था। अधिकांश राजपूत मुगलों की शरण में जा चुके थे। वीर तथा साहसी प्रताप शपथ ले चुके थे कि जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लेंगे, सोने-चाँदी की थाल में भोजन न करेंगे और न पलंग पर विश्राम करेंगे। उन्होंने तो बाल तथा नाखून तक न बनवाने की प्रतिज्ञा की थी। पर, चित्तौड़ फिर कभी पूर्णतः स्वतन्त्र न हुआ और आज भी, नाम मात्र के लिये, उदयपुर नरेश की थाल में पत्ता बिछाकर भोजन परसा जाता है।

मुगलों की विशाल सेना से लोहा लेने के लिये वीर प्रताप मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर अरावली की पर्वतमाला में चले गये। आज भी इनकी वीर पदध्वनि उसकी सुरम्य घाटियों में गूँज रही होगी। वीरता का अमर इतिहास मेवाड़ के कण-कण पर अंकित है। मेवाड़-मारवाड़ के चारण-चारणियों के गाने आज तक हमें इस युग के इस महान् स्वतन्त्रता प्रेमी की कठोर तपस्या तथा साधना की गाथा सुनाते रहते हैं। कुम्भलमेर में पड़ाव डाल कर २७ वर्षों के जिस निरन्तर युद्ध का सूत्रपात हुआ उसने अकबर को काफी परेशान कर डाला था। प्रताप अकबर के सामने कभी न झुके। कहते हैं कि एक बार अपने बाल बच्चों को (पुत्र का नाम अमरसिंह तथा कन्या का नाम करुणामयी) घास की एक रोटी के लिये भी बिलखता देखकर वे इतने विचलित हो गये थे कि उन्होंने अकबर के पास भी सन्धि का प्रस्ताव भेजा पर बीकानेर नरेश पृथ्वीराज ने प्रताप

का पतन होने से रोक दिया। उन्होंने अकबर को समझा दिया कि यह प्रताप की चाल है, और कुछ नहीं।

प्रताप के अचल व्रत की एक कहानी है। सीतल नामक एक भाट अपनी कविता सुनाकर उन्हें इतना प्रसन्न कर सका कि इनाम में उसे राणा की पगड़ी मिल गयी। यही पगड़ी लगाकर यह भाट अकबर के दरबार में पहुँचा और भरे दरबार में वह पगड़ी उतार कर बादशाह के सामने खड़ा हो गया। कारण पूछने पर उसने बतलाया कि जिसका सर कभी अकबर के सामने नहीं झुका उसकी पगड़ी कैसे झुक सकती है। नाराज होकर बादशाह ने उसे दरबार से निकाल दिया था। इन्हीं दिनों शक्तसिंह दिल्ली पहुंच चुके थे और जयपुर नरेश मानसिंह की सहायता से बादशाह की प्रसन्नता प्राप्त कर चुके थे उनको पंचहजारी पद भी मिल चुका था।

प्रताप ने अपनी स्वतन्त्र वृत्ति जारी रक्खी। शोलापुर जीतकर जब मानसिंह वापस आ रहे थे तो प्रताप के अतिथि बने। पर प्रताप ने उनके साथ भोजन करना यह कहकर अस्वीकार किया कि मानसिंह मुग़लों के हाथ बिक चुके हैं। इस भयंकर अपमान का बदला लेने के लिये ही अकबर की आज्ञा से कुम्भलमेर पर चढ़ाई कर दी गयी और हल्दी घाटी का इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध हुआ। शाहजादा सलीम इस सेना के प्रधान सेनापति थे।

प्रताप के पास केवल २२ हजार की अशिक्षित पर देश-भक्ति से ओत-प्रोत लड़ने वालों की सेना थी। मुग़लों की सेना लाखों की तादाद में थी। प्रताप ने इस युद्ध में कमाल की वीरता दिखलायी। उनका घोड़ा केवल अपनी चतुराई, फुर्तीलेपन तथा वीरता के कारण इतिहास में अमर हो गया है। पर प्रताप

काफी घायल हो चुके थे और शरीर से काफी रक्त जा चुका था। राजपूतों के १४ हजार सिपाही काम आ चुके थे। इस समय झाला सरदार ने प्रताप से आग्रह कर उनका वस्त्र पहन लिया और अपना वस्त्र उन्हें पहना दिया। प्रताप का रणक्षेत्र से हट जाना ही उचित समझा गया। मुगलों ने प्रताप समझ कर झाला सरदार को मार डाला। इधर राणा को भागते हुये सलीम ने देख लिया और उसे मारने के लिये दो सिपाही दौड़ाये पर इस अवसर पर शक्तसिंह का भ्रातृप्रेम तथा देश प्रेम जागृत हो उठा। उसने उन दोनों सिपाहियों को मार कर अपने भाई से चरण पकड़ कर क्षमा माँगी और उनके साथ हो गया। हल्दी घाटी की विजय मुगलों के लिये बड़ी महंगी पड़ी उनकी सेना का बहुत बड़ा हिस्सा तबाह हो चुका था। पर, राणा प्रताप का तो जो कुछ था, सब इस युद्ध में स्वहा हो गया था। उनका इस समय यदि कोई सच्चा सहायक साथी था तो भील जाति के लोग। भीलों ने राणा का बड़ा साथ दिया और उनके साथ काफी संकट भी झेला था। इसी बीच सूखा पड़ जाने के कारण कुम्भलमेर के निवासियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। राणा को मजबूरन क़िला छोड़ना पड़ा और मुगलों ने इसे भी हथिया लिया। इसकी रक्षा करते हुए, क़िले के सूबेदार शोणित गुरु सरदार ने जान दे दी। निराश्रय राणा दर-दर ठोकरें खाने लगे। बाल-बच्चों को तो भीलों के पास छोड़ दिया था। इधर-उधर वे भागते मेवाड़ पहुंचे। यहाँ पर उनके पूर्वजों के वृद्ध मंत्री भामाशाह रहते थे। भामा ने एक बड़ी थैली लाकर राणा के चरणों में अर्पित करके कहा कि आपके पूर्वजों से प्राप्त मेरे पास इतना धन है कि २५ हजार की सेना १२ वर्ष तक रखी जा सकती है। आप इसे अपना धन स्वीकार कर राजपूतों की रक्षा कीजिये।

भामाशाह के इस अभूतपूर्व राष्ट्रीय दान से राणा के सत्य संकल्प को बड़ी दृढ़ता तथा सहायता प्राप्त हुई। राजपूत सेना फिर एकत्रित हुई। मुगलों पर आक्रमण हुआ। उदयपुर, कुम्भलमेर आदि पुनः राणा के अधिकार में आ गया। चित्तौड़ को छोड़कर समूचा मेवाड़ आजाद हो गया। राणा की तपस्या अंशतः पूरी हुई।

पर उनके वास्तविक संकल्प की पूर्ति अर्थात् चित्तौड़ पर अधिकार न हो पाया। इससे राणा के हृदय पर काफी चोट लगी और वास्तव में चित्तौड़ वापस न ले सकने के दुःख से ही उनकी मृत्यु हो गयी अन्यथा वे काफी लम्बी अवधि तक शासन करते। मरते समय वे सरदारों से चित्तौड़ को स्वतन्त्र कराने का अनुरोध करते गये।

वीर प्रताप की यही संक्षिप्त जीवनी है। इनका एक एक कार्य देशभक्ति तथा हिन्दू जाति के प्रति अदम्य प्रेम का परिचायक है। उनका जीवन लड़ते ही लड़ते बीता और राज सुख वास्तव में कभी न मिला। पर ऐसा ही जीवन वास्तविक जीवन है। प्रताप अमर हैं। संसार उनकी कीर्ति कभी नहीं भूल सकता है। मेवाड़ का इतिहास जब तक हमारे ऐतिहासिक गौरव के लिए विद्यमान है, प्रताप का नाम हरेक भारतीय की जबान पर होगा।



शेरशाह

मुगल साम्राज्य के प्रारम्भ काल में बिहार में एक नक्षत्र का उदय हुआ था जिसने अल्पकाल में, कठिनाइयों को चीरते हुए सूर वंश को स्थापना की थी और इस प्रकार के शासन सुधारों की नींव डाली थी, जिन पर अकबर के नवरत्नों ने शानदार मुगल शासन का भवन खड़ा किया। इस राजनीतिक नक्षत्र का उदय बालक फ़रीद के रूप में हुआ था जो आगे चल-कर शेरशाह के नाम से भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हुआ।

शेरशाह का बचपन का नाम फ़रीद था। उसके पिता का नाम हसन था। हसन के पास सहसराम के निकट दो परगने की जमींदारी थी। दुर्भाग्यवश पिता से फ़रीद की प्रारम्भ से ही अनबन थी। इसका कारण था हसन द्वारा अपनी पत्नी की अवहेलना जो मातृभक्त फ़रीद के लिये सर्वथा असह्य थी।

बालक फरीद एक दिन साहसिकता का सम्बल लेकर जौनपुर के शासक के दरबार में खड़ा हो गया। जमालखाँ ने उसकी क़ीमत को पहचाना। लगभग चार साल के बाद फ़रीद और उसके पिता के बीच समझौते की नींव सी पड़ी और हसन ने अपने लड़के को होनहार समझ कर उसे रियासत का निरीक्षक नियुक्त किया। नवयुवक फ़रीद का आदर्शवाद इसी समय से जागरूक था। उसने घोषित कर दिया कि हर एक शासन की नींव न्याय पर क़ायम होनी चाहिये और मेरी यह सबसे बड़ी कोशिश होगी कि मैं न्याय और इंसाफ के रास्ते पर चलता रहूँ। ऐसी ही घटनाओं के कारण "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की याद आजाती है। फरीद अपने कार्य को योग्यतापूर्वक सँभाल रहा था, परन्तु उसे शान्ति कहाँ। पिता से फिर झगड़ा होगया और उत्साही फरीद ने बिहार को उठती हुई सैनिक शक्ति के केन्द्र, बहादुरखाँ लोहानी के साथ समझौता कर लिया। इसी दशा में एक दिन वह अपने मालिक के साथ शिकार के लिये जंगल में घुसा। बहादुर खाँ लोहानी घने जंगल की छाँह में सो रहे थे कि एक शेर ने गरज कर आक्रमण कर दिया। फरीद ने अपनी तलवार से शेर का काम तमाम कर दिया। इस घटना से उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। गौरव की उस पर वृष्टि हुई। उसने अपना नाम शेरखाँ ग्रहण कर लिया। कुछ दिनों बाद परिस्थिति वश कड़ा के सुलतान जानिद के पास फ़रीद को शरण लेनी पड़ी। कड़ा के सूबेदार की संरक्षता में ही शेरखाँ मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर के सम्पर्क में आया। बाबर ने प्रसन्न होकर शेरखाँ को बिहार में एक सैनिक पदाधिकारी के रूप में नियुक्त किया।

शेरखाँ की महत्वाकाँक्षा सैनिक पदाधिकारी के पद से संतुष्ट होने वाली नहीं थी। शेरखाँ का विश्वास था कि मुग़लों को

भारतवर्ष से उखाड़ कर फेंका जा सकता है। बाबर ने शेरखाँ के मुख की रेखाओं से महत्वाकाँक्षाओं होने वाले विस्फोट को पहचान लिया। शेरखाँ ने फौरन दिल्ली छोड़कर बिहार के लिये प्रस्थान किया। महमूद लोहानी के यहाँ शरण ली। लोहनी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् शेरखाँ ने उसकी रियासत पर कब्जा कर लिया। और एक प्रकार से बिहार में अद्वितीय हो गया। चुनारगढ़ के रक्षक की विधवा को, लाड़ू मलका से शादी करके शेरखाँ ने चुनारगढ़ और वहाँ के तीन सौ मन सोने पर अधिकार पाया। इस प्रकार शेरखाँ के पास द्रव्य और शक्ति दोनों का बल हो गया।

सन् १५३० के दिसम्बर में बाबर की मृत्यु हुई। हुमायूँ गद्दीनशीन हुए। अपने भाई कामरान के विद्रोह से हुमायूँ का प्रारम्भिक शासनकाल अशान्त सा ही रहा। कामरान के विद्रोह को दबाकर हुमायूँ ने शेरखाँ की शमशीर को तोड़ना चाहा। जब शेरखाँ बंगाल के मुहम्मदशाह पुर्निया की राजधानी गौड़ को घेर रहा था, पूरब की ओर से हुमायूँ ने आक्रमण कर दिया। हुमायूँ ने चुनारगढ़ फतह कर लिया, परन्तु शेरखाँ भी गौड़ पर अपना झंडा गाड़ चुका था। और साथ ही उन्होंने रोहतासगढ़ पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। इसी बीच में बरसात आ गयी। चारों ओर पानी ही पानी दिखायी देने लगा। आगरे में हुमायूँ के भाइयों ने फिर विद्रोह कर दिया। इसलिये हुमायूँ को पीछे लौटना पड़ा। चूसा नामक स्थान पर मुग़ल अफ़गान फौजों की मुठभेड़ हुई। शेरखाँ ने रणकौशल के साथ पीछे से आक्रमण किया। हुमायूँ ने गंगा के प्रवाह में कूद कर जान बचाया और जैसे भगवान ने उसकी जान बचाने के लिये ही एक भिश्ती को वहाँ पर भेज दिया था। शेरखाँ शक्तिशाली होकर शेरशाह होगया और उसने अपने आपको बंगाल, बिहार

और जौनपुर का शासक घोषित कर दिया। उसने अपने को तख्तनशीन भी किया। सात दिन तक नगाड़े बजते रहे और दूर दूर प्रान्तों से अफगान बहादुर आकर नाचते और गाते रहे।

दूसरी ओर हुमायूं भी चुपचाप नहीं था। उसने एक दूसरी मुगल सेना तय्यार की। बिलग्राम में इन दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हो गयी और शेरशाह की विजय बड़ी आसानी के साथ होगयी। हुमायूं भागकर पंजाब पहुँचा परन्तु शेरशाह की चमकती हुई तलवार उसका वहाँ भी पीछा करती ही रही। सिंध तक शेरशाह ने पीछा किया। अन्त में हुमायूं को भारत छोड़कर कन्धार में शरण लेनी पड़ी।

हुमायूं के पलायन के पश्चात् शेरशाह भारत का सम्राट् होगया। परन्तु अभी राज्य का बहुत सा संगठन कार्य बाकी था। उत्तरी भारत और राजपूताने की बहुत सी शक्तियाँ सर उठाए हुए चुनौती दे रही थीं। मालवा में पूरनमल ने अपनी ताकत बेहद बढ़ाली थी। शेरशाह ने पूरनमल की शक्ति को रणकौशल और चालाकी से छिन्न भिन्न कर दिया। मध्यभारत से शेरशाह जोधपुर के लिये चला। राजा मालदेव रणकुशल थे। उन्होंने डट कर उससे मोर्चा लिया। परन्तु शेरशाह भी कम कुशल नहीं था। उसने जाली चिट्ठियाँ लिखवाकर मालदेव की सेना को हतोत्साहित और अन्त में पराजित कर दिया। इसके पश्चात् कालिंजरगढ़ की ओर शेरशाह की दृष्टि घूमी। शेरशाह ने कालिंजरगढ़ के जीतने के लिये सभी प्रयत्न किये। राजपूत भी डट कर लड़े। इसी युद्ध में लड़ते लड़ते शेरशाह का देहान्त होगया। अन्तिम क्षणों में उसे विजय का समाचार मिल गया था। उसने कहा, "अल्लाह की रहमत है" और फिर वह कभी न बोला।

शेरशाह के शौर्यपूर्ण जीवन का अन्त केवल पाँच वर्ष शासन करने के पश्चात १५४५ ईस्वीय में हो गया। उसका रणकौशल और जवाँमर्दी अद्वितीय थी। परन्तु इससे भी अधिक अपने शासन सुधारों और असीम न्यायप्रियता के कारण उसका नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। जहाँ पर अराजकता थी, उसी उत्तरी और मध्यभारत में शेरशाह ने सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की। सारे शासन की इकाई एक परगना था जिस पर शासन करने के लिये शिकदार, अमीन और दो कारकुन क्लर्क नियुक्त किये गये थे। इन सभी अफ़सरों का तबादला नियमित रूप से किया जाता था। शेरशाह ने बड़े बड़े स्वतन्त्र एवं उच्छृङ्खल सूबेदारों का खात्मा सिवा पंजाब और सीमान्त प्रदेश को छोड़कर सब जगह कर दिया था। यदि अवसर मिलता तो पंजाब भी सुधर जाता। सभी बड़े अफ़सरों के नीचे काम करने वाले सिपाहियों की एक फ़ेहरिस्त तैयार करवा ली गयी और उनके घोड़ों को दागी कर दिया गया। इस प्रकार की फ़ेहरिस्तों से बगावत के मौक़े कम होगये।

शेरशाह ने शासन को बजाय धार्मिक स्वरूप देने के राजनैतिक रूप दिया। यही उसकी महानता थी। उसने हिन्दुओं को हमेशा प्रोत्साहन दिया और धर्म के नाम पर उनको कभी तंग नहीं किया। उसने बंगाल से उत्तरी सीमान्त तक एक बड़े राजपथ का निर्माण किया जिस पर अब्बासखाँ के शब्दों में एक बुढ़िया भी अपने सर पर गहनों की पोटरी रखे हुए, निष्कंटक यात्रा कर सकती थी और इसी सड़क का आधुनिक स्वरूप ग्रांड ट्रङ्क रोड है। लाहौर से मुलतान तक, और आगरे से बुरहानपुर तक भी शेरशाह ने सड़कों का निर्माण कराया था। इन सड़कों पर सरायों, वृक्षों और कुओं का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध था।

शेरशाह का नाम लगान सम्बन्धी सुधारों के लिये एवं सिक्के के ऊपर की इबारत के लिये सदा स्मरणीय रहेगा। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही सहसराम की जमींदारी में लगान सम्बन्धी जो प्रयोग किये थे, उनको दिल्ली पर क़ब्ज़ा करने के बाद, उसने प्रौढ़ स्वरूप दिया। भूमि का चप्पा चप्पा नाप डाला गया, परगना का आमीन, लगान संबंधी मामलों का अधिकारी घोषित किया गया, और उसने हर एक काश्तकार को एक पट्टा दिया, काश्तकार सीधे आमीन को अपना लगान चुकाते थे। हर साल लगान निर्धारित कर दी जाती थी। भूमि सम्बन्धी छोटे छोटे टैक्स रद्द कर दिये गये। टोडरमल ने इन सभी सुधारों को और भी विकसित रूप दिया और बहुत से अंशों में ब्रिटिश सरकार भी शेरशाह द्वारा निर्धारित पथ का अनुकरण करती है। यदि उसके निर्दिष्ट पथ पर पूरी तौर से चला जाता तो जमींदारी प्रथा की बहुत सी कुरीतियों का जन्म ही नहीं होने पाता।

शेरशाह ने मुद्रा सम्बन्धी सुधारों में भी दिलचस्पी दिखाई। उसके जमाने का चाँदी का रुपया आजकल के चाँदी के रुपये के ही बराबर था। उन सिक्कों पर नागरी और फ़ारसी में अक्षर अंकित थे। यही पद्धति मुग़ल सिक्कों में भी जारी रही और ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने भी शेरशाह के सिक्कों की रूप रेखा का अनुगमन किया।

शेरशाह शेर-दिल शासक होने के अतिरिक्त दूरदर्शी व्यवस्थापक और प्रजावत्सल राजनीतिज्ञ भी थे। और इन्हीं कारणों से उसे अपने जीवन काल में इतिहासकार अब्बासखाँ और उसके बाद श्री कानूनगो से लगाकर सभी ऐतिहासिकों की प्रशंसा प्राप्त हुई है।

शेरशाह वास्तव में शेर था।



शाहजहाँ

आगरे के क़िले के एक कोने में मोती मस्जिद है। इसके हरएक पत्थर में अद्भुत आकर्षण है। एक रहस्यमयी आत्मा का स्पंदन इन श्वेत पत्थरों में ध्वनित होता रहता है। बाहर से मोती मस्जिद भव्य नहीं मालूम पड़ती, परन्तु अन्दर प्रवेश करते ही देखने वालों के चित्त को एक शान्त, उदात्त सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

इसी मोती मस्जिद में भारत सम्राट शाहजहाँ ने अपने अन्तिम दिवस व्यतीत किये थे और उनके हाथ अल्लाह ताला की इबादत के लिये ऊपर उठे थे।

यह संभव है कि शाहजहाँ अपने पूर्वज और मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की तरह वीर न रहे हों परन्तु बर्नियर और टैवर्नियर से लेकर सभी तत्कालीन इतिहासकारों की सम्मति में, शाहजहाँ का शासनकाल बहुत ही वैभवशाली था और उसके समय में मुगल वास्तु एवं स्थापत्य कला अपने

चरम उत्कर्ष पर पहुंच गई थी। शाहजहाँ ने प्रजारंजन में कभी कोई कसर नहीं उठा रखी और यदि हम अमर इतिहासकार एलफिंस्टन के कथन पर विश्वास करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि सुख और समृद्ध के विचार से शाहजहाँ का शासन-काल अद्वितीय था। मुग़ल साम्राज्य की करोड़ों जनता के लिये शाहजहाँ अपनी दृढ़ न्यायप्रियता के लिये प्रसिद्ध थे। इतिहासकार मनुक्की ने इस बात की ताईद की है कि शाहजहाँ न केवल बड़े अपराधों पर कड़ा दंड देते थे, वरन् अपने आधीन पदाधिकारियों के छोटे छोटे अपराधों को भी नज़रन्दाज़ नहीं करते थे। शाहजहाँ का शासनकाल बाहर से आने वाले विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों से प्रसिद्ध है। फ्रांस के टेवर्नियर और बर्नियर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन लोगों ने शाहजहाँ के अन्तिम दिवसों का भी वर्णन किया है। इटली के कुछ आदमी इनके तोपखाने में भरती हो गये थे। उनमें से एक ने शाहजहाँ द्वारा बरते गये उन रोचक उपायों का वर्णन किया है, जिनके द्वारा वह गहरे से गहरे अपराधों का पता लगा लिया करते थे। इसीलिये जब मोती मस्जिद में शाहजहाँ की मृत्यु १० दिवस की कष्टपूर्ण बीमारी के बाद हुई, तो सारे देश के हृदय से एक करुण क्रंदन सा उठा था। एक इतिहासकार ने लिखा है कि जिस समय उसकी मृत्यु का समाचार फैला, उस समय मुग़लों के आधीन हर एक शहर और हर एक बाजार एवं हर एक गली से शोकपूर्ण ध्वनियाँ आसमान की ओर उठी थीं।

शाहजहाँ का बचपन शान-शौकत से कटा था। इनकी दादी इनको बहुत चाहती थीं, और प्रेम से 'खुर्रम' पुकारा करती थीं। खुर्रम के शाब्दिक माने हैं 'प्रसन्न'। प्रसन्न चित्त होने के अतिरिक्त शाहजादे के ऊपर उसके बाबा बादशाह अकबर की बड़ी ही कृपा दृष्टि थी। उस गौरवशाली की यही आकांक्षा थी कि खुर्रम

अपने पिता जहाँगीर से अधिक व्यवहारिक और कुशल निकले। इसलिये हिन्दुस्तान के कोने कोने से अच्छे उस्ताद बुलाकर खुर्रम को पढ़ाने के लिये रखे गये। बादशाह अकबर का स्वप्न झूठा नहीं निकला। शाहजहाँ अपने पिता से अधिक कलाप्रिय और साथ ही अपेक्षाकृत कुशल शासक भी सिद्ध हुए।

मार्च, सन् १६१२ में खुर्रम की शादी आसफ खाँ की लड़की अर्जुमन्द बानू के साथ हुई। इस शादी के साथ शाहजहाँ के भाग्य का पासा पलट गया। आसफ खाँ की छत्र-छाया में खुर्रम की प्रगति शीघ्रता के साथ होने लगी। आसफ खाँ की बहन ही नूरजहाँ थी। और सलतनत-ई-जहाँगीरी में नूरजहाँ का जो स्थान था, उसको सभी जानते हैं। शाहजहाँ खुर्रम का भाग्य तारा चमक रहा था। वह मेवाड़ के खिलाफ युद्ध करने के लिये भेजे गये और मेवाड़ में सफलता प्राप्त करने के बाद दक्षिण भेजे गये। उस समय दक्षिण में मलिक अम्बर का बोलबाला था। परन्तु दक्षिण के शासकगण शाहजहाँ के इकबाल से मोहित हो गये। मलिक अम्बर ने मुगल जागीरें लौटा दीं। बीजापुरी आदिलशाह स्वयं बेशकीमती भेंट लेकर इनके सामने उपस्थित हुआ। इन सफलताओं के बाद तीन साल तक शाहजहाँ आगरा में ही रहे। दरबार में उनका रोब बढ़ गया था। नूरजहाँ भी इनसे जलने लगी थी। शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया और जहाँ-गीर सख्त नाराज हो गये। कुछ समय के लिये शाहजहाँ को दक्षिण की ओर भागना पड़ा और अपने पहले के दुश्मन मलिक अम्बर के यहाँ शरण लेनी पड़ी। इसी समय, आसफखाँ की चिट्ठी उन्हें मिली। जहाँगीर का जीवन-सूर्य डूब चुका था। चिट्ठी में लिखा था कि जल्दी उत्तर की ओर आओ। शाहजहाँ अपने श्वसुर की सहायता से तख्तनशीन होगये।

शाहजहाँ खुर्रम की महत्वकाँक्षा तो पूरी हो गयी और वह

शाहजहाँ हो गया। परन्तु, अभी विद्रोहियों का सर कुचलने के लिये काम बाकी था। खान जहाँ लोदी, बुन्देल नरेश जुझारसिंह और मौजूरपुर के जमींदार वगैरह विद्रोह का झंडा फहरा रहे थे। शाहजहाँ ने इन सबको कुचल कर बलख और बदख्शा की ओर नजर उठायी। अकबर और जहाँगीर दोनों चाहते थे कि मुगलिया झंडा इन दोनों स्थानों पर फिर से फहराने लगे। शाहजहाँ की यह इच्छा स्वाभाविक था। बलख और बदख्शा इत्यादि स्थानों पर शाहजहाँ के पूर्वजों की तलवारें चमक कर अपना शासन जमा चुकी थीं। परन्तु बहुत व्यय करने के बाद भी दुर्भाग्यवश शाहजहाँ को वहाँ सफलता नहीं मिली। कंधार को भी वह जीतना चाहते थे परन्तु यहाँ भी उसकी विजय कामना सफल नहीं हुई।

यदि पश्चिम में शाहजहाँ को सफलता नहीं मिली तो दक्षिण में उन्हें आशातीत सफलता मिली। मलिक अम्बर की मृत्यु के पश्चात् निजामशाही का बुरा हाल था। बीजापुर के सुल्तान के खिलाफ और मुगलों के खिलाफ भी शाहू जी भोंसला सिर उठा रहे थे। शाहजहाँ ने एक बड़े लश्कर के साथ स्वयं दक्षिण पर आक्रमण कर दिया। शाहू जी को दबा दिया गया। आदिलशाह (बीजापुर) ने आत्म समर्पण कर दिया और गोलकुंडा के कुतुबशाह ने भी आगे बढ़कर शाहजहाँ का स्वागत किया। इस प्रकार दक्षिण की समस्या को शाहजहाँ ने सुलझा दिया और औरंगजेब दक्षिण के सूबेदार नियुक्त कर दिये गये।

औरङ्गजेब की नियुक्ति के पश्चात् भी दक्षिण में शान्ति नहीं थी। इधर शाहजहाँ का भी स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और सन् १६५७ की छठीं सितम्बर को यह समाचार फैल गया कि बादशाह की तबियत बहुत खराब है। कुछ दिनों बाद ही यह भी समाचार विद्युत् की तरह फैल गया कि बादशाह का देहान्त

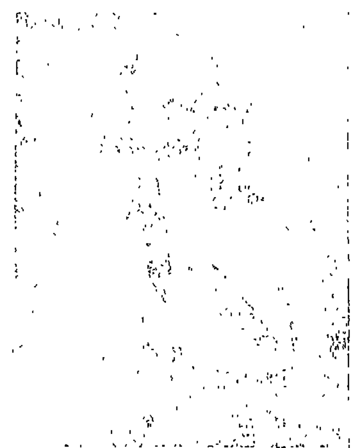
हो गया और यह मृत्यु हुई औरङ्गजेब के कैदखाने में-मोती मस्जिद में नजरबन्दी की हालत में सम्राट् के बुढ़ापे में मृत्यु के नौ वर्ष पूर्व, औरङ्गजेब ने पिता के विरुद्ध बलवा करके, अपने सब भाइयों को मार डाला, पिता को बन्दी कर दिया और स्वयं सम्राट् बन बैठे। यदि शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दारा गद्दी पर बैठते तो मुगल साम्राज्य का इतिहास ही और होता।

शाहजहाँ का जीवन भी उतार चढ़ाव की अजीब कहानी है। जिस व्यक्ति ने सारे मुगल साम्राज्य पर पिता की तरह शासन किया हो, उसी को अपने जीवन के नौ वर्ष इस करुणाजनक परिस्थिति में गुजारने पड़े, इससे बढ़कर दुखद और हो ही किया सकता है।

शाहजहाँ कला प्रियता का सबसे उदात्त उदाहरण है ताज-महल जिसे कलाकारों ने "संगमरमर में लिखित एक कविता" कहा है। दिल्ली में जो दीवान-ए-खास शाहजहाँ ने बनवाया था, वह भी अद्वितीय है। इसके ऊपर ठीक ही लिखा है कि 'यदि कहीं स्वर्ग है तो यहीं है। यहीं है, यहीं है।" यदि जहाँगीर के काल में चित्रकला की उन्नति हुई तो शाहजहाँ के जीवन में वास्तु और स्थापत्य कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

ताजमहल मुमताजमहल की स्मृति में शाहजहाँ द्वारा चढ़ाया हुआ श्वेत प्रस्तरगत अर्घ्यदान है जिसकी ज्योति कभी धूमिल नहीं होगी। इसकी पच्चीकारी, इसके अन्दर विकसित होने वाली कला और कारीगरी सभी अभूत पूर्व हैं। बर्नियर, हैवेल्स, फर्गुसन, इत्यादि ऐतिहासिकों और कला प्रेमियों ने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। बर्नियर ने तो लिखा है-मिश्र के पिरामिडों से मैं ताजमहल को अधिक अद्भुत समझता हूं।'

यदि शाहजहाँ ने कुछ भी न किया होता, सिर्फ ताज का ही निर्माण कराया होता तो भी वह भारतीय इतिहास में अमर होते।



शिवाजी

सर यदुनाथ सरकार के शब्दों में, शिवाजी ने यह सिद्ध कर दिया था कि आधुनिक हिन्दू जाति मृत नहीं है और वह एक साम्राज्य की स्थापना कर सकती है, उसका सुसंगठन कर सकती है, एक विशाल सेना रख सकती है और पाश्चात्य शक्तियों से भी मोर्चा ले सकती है शिवाजी भोंसले अपने गुरु समर्थ रामदास के व्यवहारिक शिष्यों में थे। दक्षिण के हृदय में हिन्दू नवजागरण की जो ज्योति जल रही थी, पंढरपुर के संतों की जो वाणियाँ गूँज रहीं थीं, ब्राह्मण और गौ की पवित्रता के जो आदर्श क्षितिज पर छा रहे थे, उन सबका प्रभाव शिवाजी के जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। शिवाजी नवजागरण के अग्रदूत थे।

शिवाजी शाहजी भोंसले के सुपुत्र थे। शाहजी अपनी उत्पत्ति उदयपुर नरेश के वंश से जोड़ा करते थे। शिवाजी के पितामह

मोलजी बहुत ही वीर पुरुष थे और उन्हें अहमदनगर की रियासत में एक जागीर मिली थी। मोलजी के लड़के शाहजी को बीजापुर रियासत ने अपना संरक्षण दिया और इस प्रकार शाहजी को उन्नति करने का साधन प्राप्त हो गया। शाहजी भी स्वतन्त्र प्रकृति के मनुष्य थे। इसलिये बीजापुर नरेश ने एक बार उनको क़ैद कर लिया। इस पारिवारिक संकट के अवसर पर शाहजी ने अपनी पत्नी जीजाबाई और अपने विश्वस्त ब्राह्मण मित्र दादाजी कोंडदेव के साथ अपने पुत्र शिवाजी को पूना के पास के स्थान में भेज दिया। यहाँ बीजापुरी सल्तनत के कुटिल प्रभाव से दूर शिवाजी ने कोंडदेवजी के चरणों में बैठकर शूरता की शिक्षा ग्रहण की। कोंडदेवजी के हृदय में महाराष्ट्र के गौरवपूर्ण स्वप्न जाग रहे थे, उन्होंने बालक शिवाजी को महाराष्ट्र की ऊंची नीची भूमि पर घूमने का काफ़ी मौक़ा दिया और शिवाजी के हृदय में देश प्रेम कूट-कूटकर भर दिया। सभी शस्त्रों और आयुधों की शिक्षा भी अपने गुरू से शिवाजी को मिली। शिवाजी के जीवन पर दूसरा और अपने गुरू से भी अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा अपनी माता जीजाबाई के वीर स्वभाव और उनकी आन्तरिक वेदना का। जीजाबाई की एक सौत भी थी। शाहजी का व्यवहार जीजाबाई के प्रति बहुत अच्छा नहीं था, इसलिये माता और पुत्र पूना के शान्त वातावरण में एक दूसरे के बहुत पास आगये। माता ने बालक शिवाजी को शूरवीर बनने की शिक्षा दी और यही कहा कि सारा महाराष्ट्र शक्ति पूजा से ही महान् राष्ट्र बन सकता है। ऐसी ही शिक्षा नेपोलियन को अपनी माता से मिली थी।

जब शिवाजी १८ साल के हुए तो उनके सामने भविष्य का प्रश्न आया। सन् १६४७ में दादा कोंडदेव की मृत्यु हो गई और शिवाजी ने तोरण के क़िले पर अधिकार कर लिया। कुछ ही

दिनों बाद कोंदन और पुरंदर के क़िलों पर भी शिवाजी का झण्डा फहराने लगा। इस प्रकार शिवाजी ने बीजापुर के मुहम्मद आदिलशाह को करारी चपत दी।

उसके बाद पश्चिमी घाट पार करके, कल्याण की ओर शिवाजी ने प्रस्थान किया। आदिलशाह ने कोंकण प्रांत में शिवाजी की गति को देखकर शाहजी को क़ैद कर लिया। शिवाजी ने फ़ौरन मुग़लों से लिखा-पढ़ी जारी करदी और कूटनीति से अपने पिता को छुड़ा लिया। कुछ दिनों तक अपनी शक्ति सुसंगठित करने के पश्चात् शिवाजी ने मुग़लों पर भी आक्रमण शुरू कर दिया। उस समय बीजापुर और मुग़लों में युद्ध हो रहा था। शिवाजी ने मौक़ा अच्छा समझकर मुग़लों की सीमा में घुसकर पूरे कोंकण पर अपना अधिकार जमा लिया। बीजापुरी यही तो चाहते थे कि मुग़लों की हार हो, परन्तु शिवाजी को दिन-रात बढ़ने वाली प्रगति से वे भी हैरान थे। उन्होंने अफ़ज़लखाँ को इसलिये भेजा कि वह उन्हें फुसलाकर गिरफ्तार कर ले। शिवाजी काफ़ी सतर्क थे और उन्होंने अपने बघनख से अफ़ज़लखाँ का बध कर डाला। उसके बाद उन्होंने पन्हाला पर कब्ज़ा कर लिया। बीजापुर नरेश ने तंग आकर उनसे सन्धि करली।

औरंगज़ेब ने देखा कि दक्षिण में मराठों की शक्ति बढ़ रही है इसलिये उसने शायस्ताखाँ को भेजा। पर इस शायस्ताखाँ को अपना एक कटा अंगूठा तम्बू में छोड़कर भागना पड़ा। श्री जयसिंह को भी दक्षिण भेजा गया और उस राजपूत प्रधान ने यह चाहा कि शिवाजी आगरा चलें, सन्धि कर लें और रक्त की नदी न बहे। वे आगरा गये। वहाँ पर इनकी बेइज्जती की गयी और क़ैद कर लिए गए। पर मिठाई की टोकरी में बन्द होकर वे बाहर आ गए, और सारा उत्तरी भारत घूमते हुए दक्षिण पहुँचे। औरंगज़ेब ने चिढ़कर फिर शाहज़ादा मुअज़्ज़म और

जयसिंह को भेजा परन्तु ये लोग भी शिवाजी के विरुद्ध कुछ न कर सके और अनिच्छापूर्वक इस मराठा को राजा का पद देना ही पड़ा। शिवाजी अहमदनगर इत्यादि रियासतों में खुली तौर से चौथ वसूल करते रहे। खानदेश में १६७० में उन्होंने आक्रमण किया। सूरत के बन्दरगाह पर भी भगवा झंडा दो बार फहराया गया। बुन्देलवीर छत्रसाल ने शिवाजी के प्रोत्साहन से अपने प्रदेश से मुग़ल सेनाओं को भगाना शुरू कर दिया था।

सन् १६७२-७४ में औरंगजेब को अपने राज्य के उत्तरी पश्चिमी सीमांत की ओर सेनायें भेजनी पड़ीं। शुभावसर पाकर शिवाजी ने भी अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया और १६७४ में रायगढ़ में बहुत धूमधाम के साथ इनका राज्याभिषेक संस्कार हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक दूत भी इस अवसर पर उपस्थित था।

सन् १६७४ से १६८० तक शिवाजी ने अपनी जल सेना मजबूत की, अंग्रेजों से भी मोर्चा लिया। मुग़लों की नौसेना को तो बहुत ही तंग किया जाता था। इसी बीच कर्नाटक की ओर इस वीर ने प्रस्थान किया और वहाँ अपने पिता की जागीर में से अपना हिस्सा बलपूर्वक प्राप्त कर लिया। जिन्जी इत्यादि स्थानों पर इनका अधिकार हो गया, और मद्रास होते हुए वे लौट आये। वेल्लोर पर भी उनका अधिकार होगया। इस समय शिवाजी की कीर्त्ति अपने उच्चतम शिखर पर थी। मुग़ल पराजित थे, बीजापुर और गोलकुण्डा के बादशाह उनके मित्र थे परन्तु इनके राज्य के अन्तिम दिनों में इनके दोनों पुत्रों में, यानी सम्भाजी और राजाराम में बड़ा ही विरोध था और इसलिये शिवाजी काफ़ी चिन्तित हो उठे थे। फिर भी उन्हें अपने ऊपर और समर्थ गुरू रामदास के आशीर्वाद पर विश्वास था। २४ वीं मार्च, १६८० को उनका अल्पावस्था में ही देहान्त होगया।

शिवाजी ने मराठों को नया संदेश दिया था और प्रबल मुगल साम्राज्य से मोर्चा लिया था। श्री रानाडे ने "महाराष्ट्र शक्ति के अभ्युदय" नामक इतिहास में शिवाजी द्वारा प्रचलित चौथ और सरदेशमुखी की आवश्यकता को भी सिद्ध कर दिया है। उन्होंने अपने साम्राज्य के दो भाग रखे थे। एक वह जिस पर उनका व्यक्तिगत शासन था, दूसरा वह बाहरी हिस्सा जहाँ के निवासी मराठों के आक्रमण से बचने के लिये उनको लगान का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{10}$ भाग दिया करते थे। चौथ और सरदेशमुखी क्रमशः इन्हीं करों को कहते थे। इस द्वितीय श्रेणी के प्रदेशों पर शिवाजी का प्रत्यक्ष राज्य तो नहीं था, परन्तु वे इनके प्रभाव क्षेत्र के अन्दर थे। समय की परिस्थिति ऐसी ही थी, इसलिये जो इतिहासकार शिवाजी को पार्वतीय चूहा और डाँकू कहकर निन्दा करते हैं, वे तत्कालीन परिस्थितियों और उठते हुए हिन्दू नवजागरण को न समझने के कारण ही ऐसी भूल करते हैं।

शिवाजी का शासन प्रबन्ध भी उत्कृष्ट था। मलिक अम्बर ने लगान कानून में जो सुधार किये थे उनको शिवाजी ने और भी वैज्ञानिक रूप में अपने यहाँ इस्तेमाल किया। उन्होंने भूमि नापने के लिये काठी नामक एक माप का निर्माण किया। अण्णाजीदत्त की देख-रेख में लगान का प्रबन्ध बहुत ही नियमित रूप से चलता था। अपने राज्य में लगान का $\frac{1}{5}$ भाग वे लिया करते थे; बाद में यह $\frac{2}{5}$ हिस्सा होगया था।

शिवाजी ने सारे महाराष्ट्र में दुर्गों का निर्माण किया और उनको हवलदारों, सबनवीस और सरनौबत नामक अफसरों की देख रेख में रख छोड़ा था। सेना का भी समुचित प्रबन्ध किया गया था। ३०,००० से लगाकर ४०,००० तक घुड़सवार थे और उसके दुगने पैदल, ऊंट, तोपखाना नौसेना भी थी।

उनके शासन की सबसे प्रमुख बात थी उनके अष्ट प्रधानों की सभा आठ मन्त्री होते थे जिनका शिरोमणि पेशवा होता था। इसी में न्यायाधीश और सेनापति भी होते थे। ये लोग नरेश के सलाहकार थे, बाद में नरेशों के कमजोर होने पर पेशवाओं की शक्ति बढ़ गई और वे ही वास्तविक शासक हो गये।

शिवाजी बड़े धार्मिक पुरुष थे। पर धर्मान्ध नहीं। समर्थ रामदास के अतिरिक्त मुसलिम सन्तों के लिये भी उनके हृदय में आदर था। मुसलिम धर्म ग्रन्थों और स्त्रियों को हमेशा आपने अपमानित होने से बचाया। आपने ही महाराष्ट्र को नया जीवन दिया और जनता को सच्चा नेतृत्व दिया। पुर्त्तगीज, बीजापुर और मुगल साम्राज्य के मुकाबिले में कणों की तरह बिखरे हुए मराठों को ऊपर उठाना इन्हीं का काम था। न केवल मराठे एकता के सूत्र में बँधे, परन्तु शिवाजी ने उनको एक राष्ट्र का भी रूप दे दिया। धार्मिक भावनाओं और शौर्य वृत्ति का अद्वितीय संतुलन इस महापुरुष में था। इसलिये प्रत्येक भारतीय उन्हें एक नवराष्ट्र निर्माता के रूप में सदैव आदर की दृष्टि से देखेगा।

माधवराव प्रथम

सन् १६६४ में छत्रपति शिवाजी ने जिस मराठा साम्राज्य को स्थापित किया था, उसका पूर्णतः अन्त सन् १८१८ में हुआ। पर यह अन्त और भी शीघ्र हो जाता यदि १८ वीं सदी के "चाणक्य" प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नाना फड़णवीस ने दर्जनों वर्षों तक मराठा राजनीति का नियंत्रण न किया होता। इस एक महापुरुष की प्रखर राजनीतिक बुद्धि से अंग्रेज, फ्रेंच, हैदरअली, टीपू, निजाम तथा ग्वालियर और इन्दौर के अर्द्ध-स्वतंत्र मराठा नरेश बहुत घबड़ाते थे। पर, भारत के दुर्भाग्य से तथा नाना फड़णवीस के दुर्भाग्य से, उनको मन्त्रिपद उस समय मिला जब अन्तिम योग्य तथा महान पेशवा, माधवराव प्रथम का देहान्त हो चुका था।

शिवाजी के बाद मराठा राज्य के शैशव काल में ही काफी झगड़े पैदा हो गये थे। उनका पुत्र सम्भाजी औरङ्गजेब की कैद से छूटकर आया और इस वीर ने राजाराम ऐसे योग्य व्यक्ति तथा ताराबाई ऐसी प्रतिभाशाली महिला से शासन भार

अपने हाथ में ले लिया। पर इससे मराठा साम्राज्य में शान्ति स्थापित न हो सकी। पारस्परिक कूटनीति चलती ही रही। अन्त में सम्भाजी को औरंगजेब ने फिर पकड़वा लिया और सन् १६८६ में यह वीर बुरी तरह से मरवा डाला गया। इसका अपराध यही था कि इसने इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं किया। सम्भाजी के पुत्र साहू (शिवाजी द्वितीय) को औरंगजेब ने अपने पास ही रख लिया था। "साहु" इनका पुकारने का नाम था। इसी नाम से औरंगजेब इन्हें पुकारता था।

मुगल साम्राज्य की जड़ को एक दम कमजोर कर जब औरंगजेब का देहान्त होगया तो साहु अपने राज्य वापस आ गये, पर उस समय गद्दी के कई उत्तराधिकारी खड़े थे। साहु ने अपनी सहायता के लिये बालाजी विश्वनाथ को अपना मित्र बना लिया। यह कोकँड़ी ब्राह्मण राज्य में प्रधान मंत्री के नीचे मंत्री था तथा सन् १७१४ से इस पद पर था। इस पद को 'पेशवा' कहते हैं। पेशवा फारसी का शब्द है और इसका अर्थ होता है 'नेता' मराठा इतिहास में इस महापुरुष ने बड़ा काम किया है।

बालाजी की अद्भुत प्रतिभा के कारण मराठा साम्राज्य की नींव काफी मजबूत होगयी पर धीरे धीरे शिवाजी का उत्तराधिकारी नाममात्र को शासक रह गया। वह सतारा में रहता और पेशवा पूना में बैठकर मराठा साम्राज्य का संचालन करते। सन् १७२० में बालाजी की मृत्यु के बाद उनके अत्यंत प्रतिभाशाली पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा बने। सन १७२८ में राजा साहु ने शासन का पूरा अधिकार पेशवा को सौंप दिया। बाजीराव अपने युग के सबसे बड़े पुरुष थे। इन्होंने मराठा साम्राज्य को बहुत ऊँचा उठा दिया। निजामशाही इनके नाम से काँप रही थी। उत्तर में दिल्ली के तख्त की कमर ही टूट

चुकी थी। बाजीराव की सेना सन् १७३७ में दिल्ली तक पहुँच गयी थी। सन् १७४० में बाजीराव की मृत्यु हो गयी और उनकी गद्दी पर उनके पुत्र बालाजी राव बैठे। आप पेशवा वंश में सबसे ऊंचे उठे और फिर जीवन का सबसे गहरा धक्का खाकर, दुखी हृदय से संसार से चले गये। पंजाब और दिल्ली पर इन्होंने पूर्ण आधिपत्य कर लिया था। आत्म-विश्वास और अहंभाव की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने के कारण १३ जनवरी १७६१ में पेशवा की विशाल सेना, सेनापति विश्वासराव तथा सदाशिव भाऊ की अध्यक्षता में, पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली की सेना से भयंकर युद्ध करके, हार गयी और इस पराजय ने उत्तर भारत में मराठा प्रभुत्व को सदा के लिये सुला दिया। इस युद्ध में मराठों के लगभग ५०,००० हजार सिपाही ही नहीं काम आये, बल्कि राज्य के बड़े बड़े सरदार भी खेत रहे। घायल बचे हुए कुछ सिपाहियों में नाना फड़नवीस भी थे। पेशवा के पुत्र विश्वासराव मारे गये। इस दुर्घटना के समाचार से बालाजी के हृदय पर ऐसी गहरी चोट लगी कि उनका देहान्त होगया।

उनके दूसरे पुत्र माधवराव प्रथम ने पेशवा का पद सम्भाला। मराठा राज्य पर ऐसा संकट काल कभी न आया था। विस्तृत राज्य की शृंखला टूट रही थी। चारों ओर से शत्रु दांत गड़ाये हुए थे। भारत के राजनैतिक आकाश में सन् १७६१ से १८१८ के बीच का युग बड़े परिवर्त्तन का काल था। इस अवधि में केवल ११ वर्ष तक मराठा साम्राज्य की नौका खेने का भार माधवराव पर पड़ा।

मुगल सम्राट् केवल दिल्ली के कुछ मुहल्लों पर अधिकार रखते थे। दिल्ली में ही दो-दो शाहंशाह कभी एक साथ राज्य करते नजर आते थे। पर मराठों के साम्राज्य में मैसूर नरेश

हैदरअली, निजाम तथा बंगाल के नवाब सूबेदार शुजाउद्दौला अपना स्वत्व स्थापित करने की चेष्टा कर रहे थे। हैदर दूरदर्शी तथा महान शासक थे। इनकी इच्छा थी कि मराठे उनके साथ मिलकर काम करें तो शीघ्र ही भारत से ईस्ट इंडिया कम्पनी को निकाला जा सकता है। वह फ्रेंचों से मित्रता रखते थे पर ईस्ट इंडिया कम्पनी से नहीं। अपनी ५० वर्ष की उम्र में ही हैदर ने मैसूर के राज्य को बड़ा शक्तिशाली कर दिया था पर उन्हें अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर न मिला।

अंग्रेजों की ताकत बढ़ रही थी। १७६४ में बक्सर के युद्ध के बाद बंगाल और बिहार के सूबे अंग्रेजों के आधीन हो चुके थे। मुगल बादशाह शाहआलम ने लार्ड क्लाइव को इलाहाबाद तथा कड़ा की दीवानी लिख दी और बंगाल की दीवानी भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के सुपुर्द कर दी। इस लाचार बादशाह ने अपने को २६ लाख रुपये में बेंच दिया। औरङ्गजेब के मरने के ५७ वर्ष के भीतर ही उसके विशाल साम्राज्य की यह दुर्दशा हो गयी।

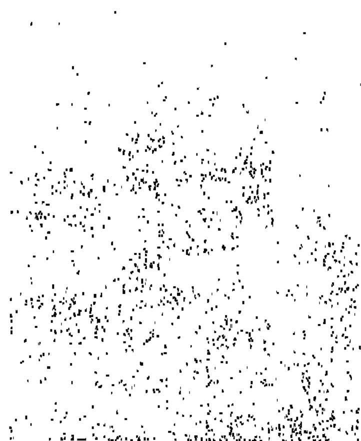
मराठा साम्राज्य में भीतरी ठोस संगठन कदापि न था। लगान वसूल करने के लिये निश्चित सीमायें देकर सरदार खरीद लिये जाते थे। ऐसी दशा में केन्द्रीय शासन के कमजोर होते ही सरदारों का भी स्वतंत्र हो जाना स्वभाविक था। ग्वालियर में इस समय महादजी सिंधिया नामक अद्भुत पराक्रमी तथा सुयोग्य शासक राज्य कर रहा था। इन्दौर के सेनापति मल्हार राव की वीरता का सब लोहा मानते थे। भोंसले नागपुर में अधिकार जमाये बैठे थे। राजनीति-पंडित नाना फड़नवीस ने चेष्टा की कि पेशवा के मंत्री बन जावें, पर अभी उनका इतना महत्व नहीं हो पाया था।

इन सब विपत्तियों को सम्भाला और सुलझाया एक व्यक्ति ने। वह थे माधवराव पेशवा। इस महापुरुष ने बड़े धैर्य से काम लिया। पानीपत की पराजय का एक कारण यह था कि मराठे राजपूतों को नाराज कर चुके थे और वे मराठों को पैसे का गुलाम समझते थे। माधव ने राजपूतों का सब झगड़ा सुलझा दिया तथा उन्हें मिला कर उत्तर में मालवा तक का अपना राज्य मजबूत कर लिया। दक्षिण में माधव को निजाम तथा हैदर दोनों से ही भय था उन्होंने कुशलता पूर्वक निजाम के साथ भी मैत्री कर ली और इस मैत्री के कारण हैदर से होने वाले संघर्ष को भी बहुत आगे न बढ़ने दिया। मैसूर निजाम के झगड़ों में वे खिंच सकते थे पर यह उनकी बुद्धिमता थी कि हैदर से युद्ध का अवसर ही नहीं आया। फ्रेंच शक्ति दुर्बल हो चुकी थी और सन् १७६३ में पेरिस की संधि के उपरान्त एंग्लो-फ्रेन्च सप्त-वर्षीय युद्ध समाप्त हो चुका था। वीर फ्रेंच सिपाही लाली सन् १७६६ में पेरिस में फांसी चढ़ चुका था। कृतघ्न फ्रेंच राजनीति से माधव ने मरहठा साम्राज्य को साफ बचा लिया।

अंग्रेज भी मराठी शक्ति पर दाँत लगाये बैठे थे। बम्बई की सरकार सालसेट और बसीन टापुओं के लिये लालायित थी। पर, उन्हें भी माधव के शासन काल में लड़ने का मौका न मिला और उनकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही प्रथम मराठा युद्ध छिड़ गया।

माधवराव ने अपने सरदारों तथा जागीरदारों को बड़ी योग्यता के साथ सम्भाला। सबको पेशवाई-नियंत्रण में आना पड़ा। उनके इस महान कार्य की लम्बी कहानी है। इसके अतिरिक्त वे शायद प्रथम तथा अन्तिम पेशवा थे जिनके शासन काल में हुकूमत के हर पहलू को ठीक रास्ते पर लाया गया। पर

ऐसे कठिन समय में मराठा राज्य और उसके साथ भारत की राजनीति मात्र को नियंत्रित करने वाले माधव ज्यादा दिन तक न जी सके। वे बचपन से ही रोगी थे और सन् १७७२ में उनकी मृत्यु के साथ मराठा साम्राज्य और भारत का भविष्य लुप्त होगया। नाना फड़नवीस ने बड़ी चेष्टा की, पर अयोग्य पेशवा तथा घर की आग ने छत्रपति शिवाजी द्वारा स्थापित हिन्दू-पद पादशाही को खा डाला।



हैदरअली

हैदरअली के पिता का नाम फतेह मुहम्मद था और सन् १७१७ में इनका जन्म हुआ था। यह बचपन से ही निडर और साहसिक थे। इनके सबसे बड़े भाई शाहबाज मैसूर की सेना में बारह सौ सिपाहियों के सरदार थे। इन्हीं के द्वारा हैदर को बत्तीस वर्ष की आयु में मैसूर सेना में नौकरी मिली। उस समय मैसूर के प्रधान मंत्री ने इस साहसी और निर्भीक सैनिक की वीरता पर प्रसन्न हो कर मैसूर सेना की एक टुकड़ी के साथ नशीरजंग की सहायता के लिये इन्हें भेजा। नशीरजंग ने हैदराबाद के निजाम की गद्दी पर अधिकार कर लिया था किन्तु अंत में फ्रांसिसियों के हाथ से पकड़ा जा कर मारा गया। हैदर को उसी समय अवसर मिला और उस अस्तव्यस्तता की दशा में उन्होंने नशीरजंग के खजाने का एक अंश अधिकार में कर

लिया। उन्होंने उसी समय पंद्रह सौ घुड़सवारों और तीन हजार पैदल सिपाहियों की सेना तैयार की और धीरे धीरे बढ़ते बढ़ते 'डिंडिगल' क़िले के प्रधान हो गये। डिंडिगल उनके समय में एक विशाल शस्त्रागार बन गया। खंडेराव नाम के एक दक्षिणी ब्राह्मण उनके मंत्री नियुक्त हुए।

सन् १७५७ में मैसूर की स्थिति डाँवाडोल हो रही थी। एक बार नये निज़ाम सलावत जंग ने तथा दूसरी बार बालाजी बाजीराव पेशवा ने मैसूर पर चढ़ाई की दोनों ही बार मैसूर के ख़ज़ाने से भारी भारी रक़में देकर आक्रमणकारियों को संतुष्ट करना पड़ा। ख़ज़ाना प्रायः ख़ाली हो जाने से सेना का वेतन नहीं दिया जा सका और फ़ौज बलवाई हो गयी मैसूर के प्रधान मंत्री नंजराज को, जिन्होंने प्रारम्भ में हैदरअली को प्रोत्साहन दिया था, उनकी याद आयी। हैदर ने आकर चतुराई से स्थिति सम्हाली और सेना को संतुष्ट किया। इस अनुवर्ती सेना की शक्ति के भरोसे हैदर ने पेशवाओं से लड़ाई ठान दी। गोपालराव पटवर्द्धन के नेतृत्व में एक मराठा फ़ौज लड़ने आयी पर, हैदरअली के छल, बल, कौशल ने इस विपत्ति को दूर किया। मैसूर के महाराज कृष्णराज ने हैदर को "फ़तेह हैदर बहादुर" की उपाधि दी। इसी समय से हैदर मैसूर राज्य के नायक, नेता तथा वास्तविक शासक हो गये थे।

सन् १७६३ में हैदर अली ने बेदनूर क़ब्ज़े में किया पर अभी तक उन्हें मराठों का भय बना हुआ था। पेशवा माधवराव ने हैदर को बुरी तरह परास्त किया। हैदर ने बत्तीस लाख रुपये और अपने हाल के जीते प्रदेशों को देकर पेशवा को संतुष्ट किया। इसके बाद उन्हें मद्रास में अंग्रेजों से और अंग्रेजों के दोस्त अर्काट के नवाब मुहम्मदअली से लड़ना पड़ा। हैदर मद्रास से पांच मील दूर तक पहुंच गये। फलतः मैसूर

सरकार से मद्रास सरकार को संधि करनी पड़ी। सन् १७६६ में हैदर को एक बार फिर मराठों से लोहा लेना पड़ा, पेशवा ने एक करोड़ रुपया हैदर से माँगा था। मद्रास सरकार से हैदर ने सहायता के लिये कहा था पर वह टालमटोल कर गयी। दोनों ओर से घमासान लडायी हुई और अन्त में कुछ रक़म कम करा कर हैदर ने मराठों को पन्द्रह लाख रुपया नक़द दिया और इतना ही बाद में देने का वचन देकर पिंड छुड़ाया। सारा गुस्सा हैदर ने राजा नंजराज पर उतारा और उसे मरवा कर उसके भाई चामराज को गद्दी पर बिठाया। हैदर को 'फ़तेह-बहादुर' की उपाधि देने वाले महाराजा चिक्का कृष्णराज के बाद उनके पुत्र नंजराज गद्दी पर बैठे थे। चामराज की सन् १७७६ में मृत्यु के बाद हैदर पूर्णतः स्वच्छन्द होकर राज्य के स्वामी बन बैठे।

सन् १७७५ में हैदर के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई। निज़ाम हैदराबाद के अन्तर्गत बेलारी का एक साधारण सूबेदार था। उसने विद्रोह का झंडा उठाया और मैसूर की सहायता चाही। निज़ाम ने एक फ्रांसिसी अफसर को बेलारी को क़ाबू में लाने के लिये भेजा लेकिन हैदर तब तक बेलारी पहुँच चुके थे। निज़ाम सेना वहाँ परास्त हुई और वह फ्रांसिसी अफ़सर बड़ी कठिनाई से जान बचाकर हैदराबाद भागा। वहां से ६० मील पूरब जाकर हैदर ने तुंगभद्रा की तराई में क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। उन्होंने नाना फड़नवीस द्वारा भेजी गयी पूना की सेना का भी मुक़ाबिला सफलता पूर्वक किया। उसी तरह मितलदुर्ग और धारवार के क़िले भी हैदर के हाथ में आ गये।

इसके बाद उसकी नज़र कड़प्पा के नवाब पर पड़ी। नवाब ने पहले तो बहादुरी से मुक़ाबिला किया पर अन्त में

उसे हार माननी पड़ी। नवाब की बहन बक्सी बेगम से हैदर-अली ने विवाह कर लिया। नवाब की घुड़सवार सेना को भी उसने नौकर रख लिया।

हैदरअली अंग्रेजों से नाराज थे। उन्होंने मराठों के विरुद्ध हैदर की सहायता नहीं की थी। हैदर के पास पूना से नाना साहब का संदेश लेकर आदमी आया जिसमें निजाम और मराठों से मिल कर अंग्रेजों को मद्रास से निकाल बाहर करने के लिये मैसूर सरकार को निमंत्रण दिया गया था। इस सहायता के बदले में नाना फड़नवीस ने हैदर द्वारा कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच जीते हुए प्रदेशों का उसे ही एक मात्र स्वामी माना। हैदरअली ने इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। सन् १७८० में ८३,००० सिपाहियों को लेकर हैदर मद्रास पर चढ़ गये। १० सितम्बर को ३ हजार ७०० सौ सिपाहियों की एक अंग्रेज टुकड़ी को घेर कर बुरी तरह परास्त किया। वारन हैस्टिंग्स (उस समय के गवर्नर जनरल) ने स्थिति अपने हाथ में ली। उन्होंने सर आयरकूट को मद्रासी फौज का प्रधान सेनापति नियुक्त किया। अंग्रेजों ने मध्यभारत में मराठों को भी बहुत तंग किया था। महराज सिंधिया ने उनके दबाव में आकर बचन दिया कि वह नाना साहब पर अंग्रेजों से सुलह कर लेने के लिये दबाव डालेंगे। हैदर को अपनी सफलता पर विश्वास था किन्तु, अंग्रेजी सेना की शक्ति बहुत बढ़ा चढ़ी थी। पोर्टो नोवो की लड़ाई में हैदर के १०,००० सिपाही काम आये। हैदर ने एक बार फिर अंग्रेजों पर हमला किया किन्तु, अंत में उन्हें पीछे हटना पड़ा। वेलोर में भी ५००० आदमी खोकर हैदर का हटना पड़ा।

इस महावीर का सारा जीवन युद्ध में बीता। मैसूर इनके जीवन काल में उन्नत की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। हैदर

की महानता के बारे में कोई सन्देह ही नहीं किया जा सकता। बिना पैसे का आदमी मैसूर ऐसे धनी राज्य का स्वामी बन बैठा था। राजा चामराज की निस्सन्तान मृत्यु के बाद राज परिवार के बच्चों को बुलाकर हैदर ने उनके सामने कुछ खिलौने फैंक दिये। एक बच्चे ने एक कटार उठायी। बस हैदर ने घोषित कर दिया कि वही राजा बनने के योग्य है। विधवा रानी ने उस बालक को गोद ले लिया। सन् १७९९ में अंग्रेजों ने जब मैसूर राज्य को अपने क़ब्जे में करके वहां के राजा को अधिकार दिलाया तो ऊपर लिखे बालक का पुत्र महाराजा कृष्णराज गद्दी पर बैठे। हैदर चाहते तो राजपरिवार को खत्म कर देते पर वे नाममात्र का राजा रखना ही चाहते थे।

हाँ, हम कह रहे थे कि हैदर महापुरुष था। अपने बूते पर एक राज्य प्राप्त करना, अंग्रेजों, निजाम, मराठे—सबसे लगातार लड़ते रहना और साथ ही राज्य में सुशासन फैलाना—यह साधारण काम न था। यदि हैदर और नाना फड़नवीस का मेलजोल बना रहता, मराठे उन्हें बारबार धोखा न देते तो भारत का इतिहास ही और होता। हैदर की मृत्यु ७ दिसम्बर, १७८२ को पीठ के फोड़े से हुई। उनके बाद उनके पुत्र टीपू सुलतान हुए। टीपू अपने समय का सबसे प्रतिभाशाली, न्याय-प्रिय, हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रेमी नरेश था। पर मराठे फिर भी न चेते। टीपू अकेला पड़ गया और अंग्रेजों के हाथ २ मई १७९९ को वीरता पूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया।

महाराज रणजीतसिंह

सिक्खों के नवें गुरु थे गुरु तेगबहादुर। औरंगज़ेब ने उन्हें पकड़वा कर जेल में डाल दिया। उनके जेल जीवन में उन पर एक दिन जुर्म लगाया कि वह जेल की ऊपरी मंजिल से जनानखाने की ओर देखते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि "औरंगज़ेब मैं तुम्हारे या तुम्हारी रानियों के महल की ओर नहीं देखता। मैं पश्चिम की ओर से आने वाली उस आँधी को देख रहा हूं जो आकर तुम्हारे राज्य के पर्दे फाड़ डालेगी और तुम्हारा साम्राज्य नष्ट कर देगी।

गुरु तेगबहादुर मार डाले गये और उनके पुत्र गुरु गोविन्द जो दसवें और अन्तिम गुरु थे, पहाड़ों में चले गये। लेकिन शीघ्र ही वह सैनिक शक्ति एकत्र कर लौट आये। हज़ारों व्यक्ति उनके झण्डे के नीचे आ खड़े हुए। उन्होंने सिक्खों में जान फूँकी। उन्हें एक वीर और योद्धा जाति में परिणत कर

दिया। उसी से सिक्खों की इस योद्धा जाति का नाम खालसा पड़ा। उसने व्रत लिया कि मुग़ल साम्राज्य की ईंट से ईंट बजा देनी है। उसी दिन से उन्होंने "पञ्चककार" को अपनाया— 'केश, कच्छ, कंघा, कृपाण और कड़ा।' गुरू गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद बन्दा बैरागी ने इस काम को जारी रखा।

१८ वीं सदी में मुग़ल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा था। पंजाब की दशा उस समय बड़ी डांवाडोल थी। उत्तर पश्चिम से अफ़गान और दक्षिण से मराठा आक्रमणों की भरमार थी। सिक्खों की बारह टुकड़ियाँ बन गयी थीं। सब आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। उनका नैतिक पतन हो गया था, यहाँ तक कि अपने गुरुओं के पवित्र आदेशों और वचनों की उपेक्षा कर वह मदिरापान भी करने लगे थे। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत वहाँ पूरी तरह चरितार्थ होती थी।

इस व्यवस्था के बीच, सन् १७८० में एक संघ के मुखिया महानसिंह के घर रणजीतसिंह का जन्म हुआ। दस वर्ष की आयु में ही उन्होंने एक तरह से लड़ाई में भाग लिया। अपने पिता के साथ वह उस समय उपस्थित थे जब महानसिंह अपने प्रतिद्वन्दी मंजीवर्ग से लड़ रहे थे। सन् १७९२ में पिता की मृत्यु के बाद रणजीतसिंह पर ही घर का सारा बोझ आ पड़ा। यह बोझ कुछ साधारण नहीं था। नैतिक दृष्टि से पतित और आपस में लड़ मरने वाले जाति भाइयों को एकता का और शत्रुओं से बदला लेने का पाठ पढ़ाना था। इस नाटे कद के आदमी ने भारतीय इतिहास में आगे चलकर जो कुछ किया, वह असाधारण था। सन् १७९९ में लाहौर लेने के तीन वर्ष बाद वह अमृतसर पहुंचे, जहाँ उस समय उनकी प्रतिद्वन्दी मंजी जाति का शासन था। उस जमाने में तोपों की बड़ी माँग थी, वह सौभाग्य का चिन्ह समझी जाती थी। तोपियों के पास असाजम

नाम की एक तोप थी, और रणजीतसिंह को उस तोप की आवश्यकता थी। रणजीतसिंह की सेना बड़ी थी और दक्ष थी, भंगी लोग उसके मुकाबले ठहर नहीं सके और अन्त में थोड़ी सी लड़ाई के बाद अमृतसर उनके हाथ में आ गया। अब वे पंजाब के महाराज कहे जाने लगे।

रणजीत की स्वभावतः यह इच्छा थी कि समस्त सिक्ख उनके ही शासन में रहें। झींद और पटियाला के सरदारों में एक झगड़ा खड़ा हुआ था जिसे निबटाने के इरादे से सन् १८०६ में रणजीतसिंह ने सतलज नदी पार की। अँग्रेज सरकार सिक्खों से अपना मतलब साधना चाहती थी। उसे उत्तर पश्चिम से फ्रान्स और रूस के आक्रमणों का भय था। लार्ड मिन्टो ने, जो उस समय गवर्नर जनरल थे, सन् १८०८ में अपने विश्वासी चार्ल्स मेटकाफ को अमृतसर जाकर रणजीतसिंह से बातचीत करने को तैनात किया। इस वार्ता के परिणाम स्वरूप रणजीतसिंह की सेना ने सतलज पार नहीं किया।

रणजीतसिंह को सैनिक शिक्षा और युद्ध कला से बहुत प्रेम था, साथ ही सीखे और मँजे हुए सैनिकों का राजनैतिक महत्व वह जानते थे। अपनी सेना को भी विदेशी ढंग पर शिक्षित और योग्य बनाने की दृष्टि से उन्होंने कई यूरोपीयन अफसरों को नौकर भी रखा था। इसी शिक्षा के बल पर उन्होंने उस समय २६,००० सैनिकों तथा १९२ तोपों से सुसज्जित खालसा फौज तय्यार की जो समय के साथ साथ बढ़ती ही गयी।

सन् १८१८ में उन्होंने मुलतान पर चढ़ाई की। वहाँ उनकी सेना को काफी कष्ट उठाना पड़ा। नवाब मुजफ्फरखाँ के सिपाही बड़ी मुस्तैदी से डटे रहे। अन्त में, नवाब और उनके पाँच पुत्रों की मृत्यु के बाद ही मुलतान उनके हाथ में आ सका।

धीरे धीरे काश्मीर, पेशावर, सभी रणजीतसिंह के हाथ में आ गये। पेशावर की लड़ाई में ही रणजीतसिंह के हाथ लैली नाम की घोड़ी आई। कहा तो यह जाता है कि इस घोड़ी की प्राप्ति के लिये ही उन्होंने पेशावर पर चढ़ाई की थी।

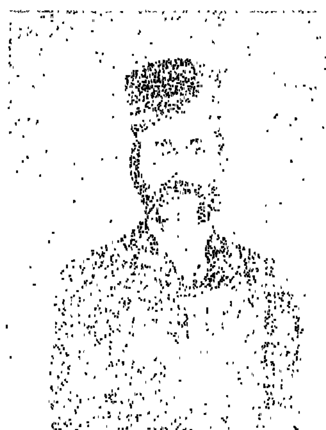
रणजीतसिंह अपने युग के महान् व्यक्ति थे। यह उन्हीं का काम था जो सिक्खों की बिखरी हुई और छिन्न भिन्न अनेकानेक जातियाँ और उपजातियाँ एक झण्डे के नीचे आ सकीं, छोटी छोटी रियासतें एक में मिल कर राज्य का रूप ले सकीं और अपने समय में विदेशी आक्रमण को रोक सकीं। जिस समय उनकी मृत्यु हुई उस समय उनकी सेना में ५०,००० हजार सैनिक थे और कम से कम ३०० सौ तोपें थीं वीरता में उनकी तुलना नेपोलियन से की जा सकती है। उनका व्यक्तित्व असाधारण था, योग्यता, धार्मिकता और जातीय सहिष्णुता उनमें गजब की थी। उनके, दरबार में बड़े ही सुयोग्य और दक्ष कर्मचारी थे। उनके मंत्रियों में हिन्दू, मुसलमान सभी थे और वह उनका कुशलता से संचालन करते थे। सन् १८३१ में लार्ड विलियम बेंटिंक भारत के गवर्नर जनरल होकर आये और रणजीतसिंह से मिले। दोनों में मित्रता की एक सन्धि हुई जिसे सात वर्ष बाद बेंटिंक के उत्तराधिकारी लार्ड आकलैंड ने भी दुहराया था। इसी समय, मध्य एशिया में रूस के आगे बढ़ आने के भयसे, ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान के वीर शासक दोस्तमुहम्मद को गद्दी से उतार कर उसके भाई शाहशुजा को बिठाना चाहा। दोस्तमुहम्मद से रणजीतसिंह का पहले भी साबका पड़ चुका था, उस समय १८१३ में इनसे काश्मीर के लिये लड़ाई हुई थी। शाहशुजा से भी रणजीतसिंह खुश नहीं थे। पर ऑकलैंड के साथ बात चीत

का परिणाम यह निकला कि शाहशुजा को ही काबुल की गद्दी पर बिठाया जाय।

महाराज रणजीतसिंह का स्वास्थ्य दिनों दिन गिर रहा था। लगातार युद्धस्थल में लड़ते लड़ते तथा अत्यधिक मदिरापान से वह एकदम जर्जर हो गये थे। सन् १८३९ के जून में उनकी मृत्यु हो गई वे वास्तव में महापुरुष थे, बड़े उदार शासक थे। मालगुजारी या लगान उतनी ही लेते थे जितना जमीन से आसानी से मिल सकता था। अकाल वगैर: पड़ने पर लगान माफ या कम हो जाती थी। विरोधियों के प्रति क्रूर होने पर भी पंजाब के बच्चे बच्चे से उन्हें अगाध प्रेम था और प्रजा उन्हें बहुत चाहती था, बचपन में शीतला की बीमारी में इनकी एक आँख फूट गई थी, पर उनके भक्त लोग इसका यह अर्थ लगाते थे कि महाराज सबको एक आँख से देखते हैं।

इनकी मृत्यु के बाद खालसा सरदार नियंत्रण के बाहर हो गये। सन् १८४५ में सिख सेना के सतलज पार करते ही अंग्रेजों से युद्ध छिड़ गया और सिख साम्राज्य समाप्त हो गया।

राजनैतिक नेता



सर फ़ीरोज़शाह मेहता

हमारी इस पुस्तक में आगे के अध्यायों में बार-बार अखिल भारतीय कांग्रेस का ज़िक्र आयेगा। इसीलिये यह आवश्यक है कि उसका थोड़ा परिचय करा दिया जावे।

भारत में ब्रिटिश ढंग पर अङ्गरेजी शिक्षा का प्रारम्भ होते ही बंगाल के नौजवानों में पश्चिमीय वेशभूषा तथा सभ्यता के प्रति बड़ा अनुराग उत्पन्न हो गया था और वे अपना धर्म तथा शिष्टाचार भी भूल जाना चाहते थे। इस अवसर पर राजा राममोहनराय, राजर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री केशवचन्द्र सेन आदि ने ब्राह्म समाज की स्थापना कर बड़ा भारी काम किया था। इसके बाद ही सन् १८५७ के ग़दर ने चारों ओर स्वाधीनता का पैग़ाम पहुंचा दिया था और देश ने करवट सी बदली थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में बंग-भंग आन्दोलन ने बड़ा काम किया था और स्वदेशी आन्दोलन के साथ ही

राष्ट्रीयता का प्रवाह सा बह चला। इसके अलावा पश्चिमीय आदर्श के आधार पर कतिपय नौजवान क्रांतिकारी दल में शामिल होकर सशस्त्र क्रान्ति द्वारा, अफसरों की हत्या द्वारा देश का उद्धार करने का सपना देखने लगे थे। ऐसे मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल के अवसर पर भारत में एक ऐसी राजनैतिक संस्था ने जन्म लिया जिसने राजनीतिक विचारों की माला पिरोकर, उनमें से हिंसात्मक कांटेदार फूल अलग कर, देश की पुकार को सुनने वाले वृद्ध तथा युवक को समान रूप से आकर्षित कर अपने झंडे के नीचे खड़ा कर दिया। आज भारतवर्ष में अनेक राजनैतिक दल हैं पर यह संस्था, जिसे हम अखिल भारतीय कांग्रेस कहते हैं सबसे अधिक सङ्गठित, जनता की वास्तविक प्रतिनिधि तथा लोकप्रिय सङ्गठन है।

सन् १८८५ में एक अवकाश प्राप्त आई० सी० एस० एलॉन ऑक्टेविन ह्यूम नामक अंग्रेज ने इसे संगठित किया था। उस समय कांग्रेस का उद्देश्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रह कर स्व-शासन के अधिकार की प्राप्ति। सन् १९२९ के लाहौर अधिवेशन तक जब कि प० जवाहरलाल के सभापतित्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था, कांग्रेस का उपर्लिखित उद्देश्य ही था। सन् १८८५ में इसका पहला अधिवेशन बम्बई में श्री डबल्यू० सी० बोनरजी की सदारत में हुआ था। यही बोनर्जी १८९८ में पुन: इस पद के लिये चुने गये। सन् १९१६ -१७ में श्रीमती बेसेंट ने "होम रूल लीग" की स्थापना की और वे स्वराज्य आन्दोलन में भाग लेने लगीं। सन् १९०७ में सूरत कांग्रेस में नर्म तथा उग्र दलवालों का खुला झगड़ा हो चुका था और नर्म दल जीत गया था। श्रीमती बेसेंट भी उस समय काफी प्रगतिवादी और उग्र समझी जाती थीं। उनकी लीग ने उग्र दलवालों

को काफी सहारा पहुंचाया। क्रमशः कांग्रेस में तत्कालीन उग्र दल का प्रभाव बढ़ गया और सन् १९२० में नागपुर में सी० विजयराघवा चारियर की अध्यक्षता में इसका जो विशेष अधिवेशन हुआ, उस समय से न केवल नर्म दल वालों को बल्कि, श्रीमती बेसेंट आदि को भी कांग्रेस से पृथक् होना पड़ा। नागपुर में गाँधी जी की जीत रही। असहयोग आन्दोलन की भूमिका बन गयी और उस समय से कांग्रेस गाँधी जी तथा उनके अनुयायियों के हाथ में आ गयी यद्यपि आज गाँधवाद भी नर्म समझा जा रहा है और कांग्रेस पर समाजवादी दल आधिपत्य जमा रहा है पर अभी गाँधी जी का प्रभुत्व अक्षुण्ण है। सन् १९३० में कांग्रेस ने सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा। १९३१ में गाँधी-इरविन समझौते के बाद यह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। सन् १९३२ में गाँधी के गोलमेज सम्मेलन से लौटने के उपरान्त सत्याग्रह आन्दोलन फिर छिड़ा और सन् १९३४ में ही इसे बाकायदा वापस लिया गया। सन् १९३५ के नये शासन विधान के अनुसार ब्रिटिश प्रान्तों को शासनाधिकार में बहुत कुछ स्वाधीनता मिल गयी। सन् १९३९ के नवम्बर में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने सरकारी युद्ध नीत के विरोध में पद-त्याग कर दिया। सन् १९४० में रामगढ़ अधिवेशन के बाद कांग्रेस ने पुनः सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया जिसमें विशेष सफलता न मिली। २१ जुलाई, १९४१ को वाइसराय ने अपनी शासन समिति को अधिक विस्तृत किया तथा इसमें भारतियों की संख्या बढ़ा दी। युद्ध-रक्षा विभाग भी बनाया गया इसी वर्ष महात्मा गाँधी ने कांग्रेस के नेतृत्व से इस्तीफा दे दिया। इस त्यागपत्र के कारणों पर विचार करने का यहाँ पर स्थान नहीं है। ३० दिसम्बर, १९४१ को गाँधी जी का पदत्याग स्वीकार कर लिया गया।

रामगढ़ अधिवेशन के बाद कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नहीं हुआ था और इस अध्याय के लिखते समय तक नहीं हुआ है। १४ जनवरी, १९४० को कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में यह तय हुआ था कि समय की हालत देखते हुए वार्षिक अधिवेशन न किया जावे। मार्च, १९४२ में भारत को नवीन शासन विधान देने के लिये महत्वपूर्ण प्रस्ताव लेकर ब्रिटिश मंत्रि-मंडल की ओर से सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये पर कांग्रेस से समझौता न हो सका। ८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस ने अपने बम्बई के विशेष अधिवेशन में "भारत छोड़ो,, प्रस्ताव पास किया। फल स्वरूप सभी कांग्रेसी नेता पकड़ लिये गये और देश में कांग्रेस के नेताओं की अनुपस्थित से अहिंसात्मक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। सरकार ने जून, १९४५ में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य छोड़ दिये गये और वाइसराय महोदय ने उन्हें शिमला में राजनैतिक समझौता करने के लिये आमंत्रित किया। मुसलिम लीग की जिद्द के कारण शिमला सम्मेलन असफल रहा। शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद ब्रिटेन में पार्लमेण्ट का निर्वाचन हुआ और उसमें मजदूर दल का अत्याधिक बहुमत रहा। ब्रिटिश प्रधान मंत्री मि० चर्चिल के स्थान पर मि० एटली (मजदूर दल) प्रधान मंत्री हुए। मजदूर सरकार भारत को स्वतंत्रता देने का वचन दे चुकी थी। उसने नये भारत मंत्री लार्ड पेथिकलारेंस की अध्यक्षता में ब्रिटिश मंत्री मण्डल का एक दल भारत भेजा और इसकी बड़ी चेष्टा के उपरान्त भारत में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो गयी है तथा भारत का नया शासन विधान बनने वाला है। कांग्रेस की वर्षों की तपस्या पूरी होने का अवसर आ गया है।

कांग्रेस का उपर्लिखित संक्षिप्त इतिहास जान लेना पाठकों के लिये जरूरी है। वे सरलता पूर्वक भारत की उस परिस्थित का अनुमान लगा सकते हैं जिनमें सन् १८५५ से १९४५ के भीतर भारतीय विभूतियों ने कार्य किया है। कांग्रेस की दृढ़ता तथा भारतीय विचारों को ब्रिटेन के कानों तक पहुंचाने का बहुत बड़ा श्रेय भारत के महापुरुष दादाभाई नौरोजी को था। अपने जीवन के पिछले ३० वर्ष उन्होंने लंदन में बिताये थे और ब्रिटिश पार्लियामेंट के वे प्रथम भारतीय सदस्य भी थे। इन्हें भारतीय राजनीति का भीष्म पितामह कहना सर्वथा उचित होगा। सन् १८८६ में ही आप कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन, जो कलकत्ता में हुआ था, सभापति थे। इसके बाद आप १८९८ में लाहौर अधिवेशन के तथा १९०६ में कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष रह चुके थे। दादा भाई नौरोजी ने भारत की आर्थिक दुरवस्था, गरीबी, पराधीनता आदि के प्रति केवल ब्रिटिश सरकार का ध्यान ही नहीं आकर्षित किया, उसके लिये वे लगातार आन्दोलन भी करते रहे, उनके उदाहरण ने बहुतों को देश सेवा के मार्ग पर खड़ा करा दिया। उन्हीं से इस विषय में स्फूर्ति प्राप्त करने वाले सर फिरोजशाह मेहता थे जो सन् १८९० में कांग्रेस के छठें अधिवेशन के अध्यक्ष भी चुने गये थे।

सर फीरोज का जन्म ठीक सौ वर्ष पूर्व, १८४५ में हुआ था। इनकी शताब्दि मनाने के लिये लंदन में भी एक कमेटी बनी थी और भारत ने तो बड़ी धूमधाम से आपकी यादगार मनाया है। यह सर्वथा उचित है कि दादा भाई ने देश की सेवा के लिये अपनी बुद्धि तथा विद्या के सहारे प्रचार कार्य अधिक किया था। पर उनके शिष्य फ़ीरोज़ ने ठोस तथा व्यवहारिक काम भी अनेक किए और दादा भाई के बाद अपने

समय में वे भारत के सबसे बड़े नेता थे। उन्हीं दिनों भारत में दिनशा वाचा, बदरुद्दीन तय्यबजी, तैलंग, गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे, तिलक, विपिनचन्द्रपाल, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ऐसी विभूतियाँ देश सेवा का काम कर रही थीं। भारत में एक साथ इतने योग्य व्यक्तियों का प्रादुर्भाव विरले ही हुआ और उन महापुरुषों के बीच में सर्वोपरि नेता बन जाना फीरोज की अद्भुत योग्यता का ही प्रमाण है। पारसी होने पर भी दादा भाई के समान वे अपने को भारत की संतान समझते थे, और जिस लगन और धुन के साथ राष्ट्र निर्माण का काम उन्होंने किया, वह सबके लिये अनुकरणीय है। बम्बई की इतनी शोभा तथा वैभव का श्रेय भी उन्हीं को है। बम्बई के म्युनिसिपल शासन के प्रधान पद से उन्होंने जो महान कार्य किया है, उसे नागरिक शासन के हरेक विद्यार्थी को जान लेना चाहिये,

इनका जन्म ४ अगस्त सन् १८४५ को हुआ। इनके पिता बम्बई में प्रमुख व्यवसायी थे और देश-विदेश से व्यापार करते थे। इसी नगर में फीरोज का बाल्यकाल बीता और यहीं के एलफिंस्टन कालेज से इन्होंने बी० ए० की परीक्षा सन् १८६४ में पास की। ६ महीने बाद वे एम० ए० (आनर्स) भी होगये। बैरिस्टरी पास करने के लिये १८६५ में विलायत गये और चार वर्ष तक इङ्गलैंड में रहे। इस प्रवास से इनको बड़ा लाभ हुआ और पश्चिम की स्वधीनता ने इनके मस्तिष्क में अपने देश की स्वाधीनता का भी स्वप्न खड़ा कर दिया। वहाँ पर इनकी प्रतिभा की धाक चारों ओर जम गई और अनेक अंग्रेज इनके घनिष्ट मित्र होगये थे।

सन् १८६८ में भारत लौटकर इन्होंने बम्बई में बैरिस्टरी शुरू कर दी। पहले तो बड़ी निराशायें हुईं पर शीघ्र ही इनकी धाक जम गयी और फिर तो वे बड़े वेग के साथ प्रधान वकीलों

की श्रेणी में पहुँच गये। क्रमशः नागरिक जीवन पर भी उनका प्रभाव जमने लगा और सन् १८७२ में 'बम्बई म्युनिसिपैलटीज ऐक्ट' बनने के बाद वे नागरिक शासन के प्रधान हो गये। सन् १८८४ तथा ८५ में वे लगातार बाम्बे कारपोरेशन के अध्यक्ष रहे और इस पद पर लगातार दो बार चुना जाने का सम्मान बम्बई में इन्हीं को प्राप्त हुआ। सन् १८८६ में बम्बई के गवर्नर लार्ड रेने आपको बम्बई व्यवस्थापक सभा का सदस्य नामज़द किया और इस सदस्यता से लाभ उठाकर फ़ीरोज़ ने सन् १८८८ का "बाम्बे कार्पोरेशन ऐक्ट" पास करवाया जिसके द्वारा कलकत्ता के बहुत पहले ही बम्बई को आंशिक नागरिक स्वाधीनता प्राप्त होगयी। १८९३ में जब प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं में सदस्यों के चुनाव की भी गुंजायश की गयी तो बाम्बे कार्पोरेशन द्वारा निर्विरोध चुने जाने का सौभाग्य इन्हें ही प्राप्त हुआ। ये भारत के सर्व प्रथम ग़ैर सरकारी निर्वाचित सदस्य थे। सन् १८९३ में बम्बई की व्यवस्थापक सभा को केन्द्रीय कौंसिल में एक सदस्य भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह सौभाग्य भी फ़ीरोज़ को ही प्राप्त हुआ, सन् १९०५ में जब प्रिंस आव वेल्स भारत आये तो उनके स्वागतार्थ फ़ीरोज़ को ही आगे रखना उचित समझकर बाम्बे कार्पोरेशन ने आपको पुनः अपना अध्यक्ष चुना था। इसी वर्ष इन्हें "सर" की उपाधि मिली थी। इसके पाँच वर्ष बाद आप विश्राम करने के लिये विलायत गये थे। वहाँ से लौटकर बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर नियुक्त हुए। विद्यालय ने इन्हें "डाक्टर आव लॉ" की सम्मानित डिग्री से आदरित किया था।

सन् १९१२ में सर फ़ीरोज शाह ने "बाम्बे क्रानिकल" नामक प्रसिद्ध [illegible] की [illegible] की और इन्हीं दिनों सेन्ट्रल

बैंक नामक प्रसिद्ध बैंक की स्थापना में आपने सोराबजी पोच-खान वाला की बड़ी सहायता की।

पर, इन कार्यों के अतिरिक्त देश की राजनैतिक सेवा के लिये इन्होंने जो अनवरत परिश्रम किये थे, उनकी लम्बी कहानी है। पाठकों को इस महापुरुष की पूरी जीवनी पढ़नी चाहिये। सर एच० पा० म ेने दो भागों में इनकी जीवन-कथा लिखी है।

डा० सर फीरोज कुछ आराम तलब तथा अत्यधिक खर्चे और दानी व्यक्ति थे। अत्यधिक यात्रा से घबड़ाते थे। इसीलिये गोखले या तिलक के समान वे लोकप्रिय न हो सके। पर, उनका राजनैतिक महत्व अपने समय में सबसे अधिक था। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत तथा ब्रिटेन का घनिष्ट संबंध रहना चाहिये और उन्होंने सदैव इसी दिशा में काम किया। ५ नव० १९१५ को इनकी मृत्यु हो गयी। ७० वर्ष के इस वयोवृद्धि नेता को खोकर भारत बड़ा दुखी हुआ। राजनीति के जिस उच्च सिंहासन पर वे बैठ चुके थे, उसी पर बैठे हुए इनकी सांसारिक लीला समाप्त हुई। ऐसा सौभाग्य बहुत कम नेताओं को प्राप्त होता है।

सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी

राजनीति एक विषम वस्तु है। इसके चक्कर में पड़ कर बड़े बड़े महापुरुष या तो अपना अस्तित्व प्राप्त ही कर लेते हैं या उसे खो देते हैं। जनता से बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं, आज वह जिसे अपने सर पर चढ़ा कर घूमती है, कल उसे ही वह धूल में फेंक देती है। इसीलिये कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि राजनीति में पड़ना मूर्खों का काम है। हरेक राजनीतिक नेता से इतनी आशायें की जाती हैं कि वह सामूहिक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं भी होता। बस यही उसके पतन का कारण होता है। जो व्यक्ति जनता की बदली हुई मनोवृत्ति के अनुसार तथा समय की गति को पहचान कर राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ता है, वही नेता बना रह सकता है।

सुरेन्द्रनाथ भारत की राष्ट्रीयता के निर्माण कर्ताओं में से थे। उन्होंने उस समय भारतीय राजनीति में भाग लेना शुरू

किया था जब वह बड़े ख़तरे की चीज़ थी। वे उस समय राजनैतिक अपराध में जेल गये थे जब ऐसी सज़ा पाने वाले के पास लोग बैठना भी पाप समझते थे। एक समय था जब सन् १६०० से १६१२ तक सुरेन्द्र भारत के सर्वप्रिय नेताओं में सर्वोच्च स्थान रखते थे। पर, महात्मा तिलक के उग्र विचारों के आगे इनकी पुरानी राजनीति फीकी पड़ गयी और जनता ने इनका इतना तिरस्कार कर दिया कि सन् १६२३ में बंगाल कौंसिल के चुनाव में भी वे बुरी तरह हार गये। जिसने लगातार ५० वर्ष तक देश की सेवा की हो उसे यह पुरस्कार मिला। पर, इसमें किसी से शिकवा-शिकायत की ज़रूरत नहीं है।

पंडितवर रमेशचन्द्रदत्त के साथ जो दो अन्य भारतीय इंगलैंड गये थे, उनमें सुरेन्द्र भी थे। इनके दादा पुराने विचार के कुलीन ब्राह्मण थे पर पिता थे कलकत्ता मेडिकल कालेज के पास शुदा डाक्टर। इस प्रकार प्राचीन तथा नवीन वातावरण में पलकर, सुरेन्द्र ने १५ वर्ष की उम्र में मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली। स्मरण रहे कि इनका जन्म ठीक उसी वर्ष हुआ था जब लार्ड डलहौज़ी गवर्नर जनरल बन कर भारत आये थे। इनकी अवस्था उस समय ६ वर्ष की थी जब कि सन् १८५७ का ग़दर हुआ था। इस प्रकार भारत की राजनैतिक जागृति में सुरेन्द्र की भी आँखें खुल जानी स्वाभाविक थीं।

उन दिनों यूरोप यात्रा में केवल समय ही अधिक न लगता था पर जाति से निकाल दिये जाने का भी डर था। फिर भी, सुरेन्द्र बी० ए० पास करने के बाद विदेश गये और १८७१ में इन्होंने इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर ली। इसी वर्ष वे कलकत्ता वापस आगये और सिलहट के असिस्टेन्ट मजिस्ट्रेट तथा बाद में कलेक्टर नियुक्त हुए। जाति वालों ने इनके ख़ान्दान को अपनी बिरादरी से ख़ारिज कर दिया।

पर, स्वतंत्र विचार वाले प्रतिभाशाली सुरेन्द्र की अंग्रेज हाकिमों से पटरी न बैठी और एक मुक़द्दमे के फ़ैसले के सिलसिले में इनको सिविल सर्विस से निकाल दिया गया तथा ५० रुपये मासिक की पेंशन एवज में मंजूर हुई। सुरेन्द्र अपने मामले की पैरवी करने के लिए लंदन गए पर उनका परिश्रम व्यर्थ गया। अब उन्होंने निश्चय किया कि वहाँ से बेरिस्टरी पास करके घर लौटे पर सिविल सर्विस से निकाले जाने के कारण इस पेशे के लिए सार्टिफ़िकेट नहीं मिला। परेशान होकर इन्होंने अंग्रेजी का घोर अध्ययन किया और सन् १८५७ में कलकत्ता वापस आकर अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। इस प्रोफ़ेसरी से उन्हें बड़ा लाभ हुआ। उनको अपनी वाक्शक्ति तथा व्याख्यान-शक्ति बढ़ाने का अच्छा मौक़ा मिला, तथा विद्यार्थियों को अंग्रेजी साहित्य सिखाने के सिलसिले में उनका साथ सदैव बर्क तथा मैकाले ऐसे उद्भट लेखकों के ग्रन्थों से बना रहता था। सुरेन्द्र ने इनसे काफ़ी लाभ उठाने की बात स्वीकार की है।

अब सुरेन्द्र ने राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना शुरू किया। कलकत्ता में स्टूडेंट्स एसोशियेसन अथवा विद्यार्थी संघ की स्थापना में इनसे बड़ा प्रोत्साहन मिला। उस समय इनका विचार था कि विद्यार्थी राजनैतिक आन्दोलन में भाग लें। कुछ वर्षों बाद उनका यह विचार बदल गया। कलकत्ता में सन् १८७६ में 'इंडियन एसोशियेसन' नामक राजनैतिक संस्था स्थापित हुई थी जिसका उद्देश्य था :—

१—भारत में प्रभावशाली लोकमत उत्पन्न करना।

२—सार्वजनिक राजनैतिक हितों के आधार पर सब जातियों तथा धर्मावलम्बियों में एकता स्थापित करना।

३—हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रयत्न।

४--सार्वजनिक आन्दोलन में जनसमूह का सहयोग प्राप्त करना।

उन दिनों इतने महान उद्देश्य लेकर राजनैतिक संस्था बनाना साधारण बात नहीं थी। सुरेन्द्र इस संस्था के बड़े प्रभावशाली सदस्य थे तथा इसके उद्देश्यों का प्रचार करने के लिये इन्होंने बंगाल में बाहर काफ़ी दौरा भी किया था। सन् १८७८ में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के विरुद्ध सबसे अधिक आन्दोलन सुरेन्द्र ने ही किया और फलतः लार्ड रिपन ने इस क़ानून को रद्द कर दिया। इसी बीच, बंगाली नामक समाचार पत्र में एक लेख लिखने के कारण सुरेन्द्र को दो महीने की जेल भी काटनी पड़ी।

सन् १८६१ के भारतीय शासन विधान के अनुसार गवर्नर जनरल को कम से कम ६ तथा अधिक से अधिक १२ सदस्यों की एक इम्पीरियल कौंसिल शासन प्रबंध में सलाह देती थी। उन दिनों केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय शासन प्रबंधक समिति में भारतीय नहीं लिये जाते थे। सुरेन्द्रनाथ ने इस अधिकार के लिये भी आन्दोलन उठाया। सन् १८९२ में प्रान्तों की लेजिस्लेटिव कौंसलें बढ़ायी गयीं। इस कौंसिल में बैनर्जी ८ वर्ष तक लगातार मेम्बर रहे और भारतीयों के हित के हरेक प्रश्न पर निर्भीक रूप से लड़ते रहे। सन् १८९९ में इस कौंसिल ने कलकत्ता कारपोरेशन को नीम सरकारी संस्था बना दिया। सुरेन्द्र के घोर संघर्ष पर भी कुछ न हो सका। पर ठीक २२ वर्ष बाद, जब वे बंगाल में स्वायत्त शासन विभाग मंत्री थे, उन्होंने इस नियम को रद्द करा कर कलकत्ता कार्पोरेशन को अत्यधिक अधिकार दिला दिये तथा कर दाताओं को इसकी ⅘ सदस्य संख्या चुनने का अधिकार मिल गया। कलकत्ता कारपोरेशन

को आज जो अधिकार प्राप्त हुए हैं, वह श्री सुरेन्द्रनाथ की बदौलत ही हुआ।

सन् १८६८ से लार्ड कर्जन भारत के वायसराय हुए। इस प्रतिभाशाली व्यक्ति ने भारत की सबसे बड़ी सेवा यह की कि उसके ऐतिहासिक स्थानों की रक्षा का प्रबन्ध कराया पर वे देश राजनैतिक जीवन के कड़े विरोधी थे। उनको सुरेन्द्र ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का सामना करना पड़ा। लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँटकर उसकी राजनैतिक शक्ति को ही खंडित कर देना चाहा। सुरेन्द्रनाथ ने इस अत्यंत हानिकारक विधान के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन चालू किया और सन् १६०४ में वे अपने नेतृत्व के उच्चतम आसन पर पहुँच गये थे। बंगाल के बटवारे का आन्दोलन सन् १६११ तक चलता रहा। दिसम्बर १६११ में सम्राट जार्ज पञ्चम ने अपने प्रसिद्ध दिल्ली दरबार में बंगाल के बँटवारे की मनाही कर दी तथा भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली बनायी गयी।

उन दिनों बंगाल में, क्रान्तिकारी दल ने जोर पकड़ लिया था। महात्मा अरविंद घोस तथा रासबिहारी बोस ऐसे नेता क्रान्ति की ओर जा रहे थे। सुरेन्द्र इस प्रकार के हिंसात्मक आन्दोलन के घोर विरोधी थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन सफल भी न हुआ। रासबिहारी जापान भाग गये थे, वहाँ उनकी हाल में ही मृत्यु हुई है और अरविंद पाँडुचेरी चले गये। अरविंद इस समय भारत के सबसे बड़े दार्शनिकों तथा महात्माओं में से एक हैं।

सन् १६०७ में सुरेन्द्र के नेतृत्व को पहली चुनौती दी गयी। सूरत की कांग्रेस में उग्रवादी दल ने बड़ा विरोध किया। सुरेन्द्र पर जूता तक फेंका गया। पर कांग्रेस के इस

कर्णधार ने किसी प्रकार उग्रदल को परास्त किया और सन् १९१६ तक कांग्रेस पर इनका आधिपत्य, बना रहा। पर महात्मा गोखले ऐसे नम्र विचार के नेता से भी अधिक नम्र उनकी राजनीति थी। भारत काफी आगे बढ़ चुका था। तिलक और गाँधी मैदान में आ चुके थे। १९१६ में कांग्रेस तथा मुसलिम लीग का लखनऊ में समझौता हो चुका था। १९१९ में माँटेगू चेम्सफोर्ड सुधार योजना बन रही थी। १९१९ में ही गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन की भूमिका बनने लगी। सुरेन्द्र नये शासन विधान को काम में लाना चाहते थे तथा उनका मत था कि जो मिला है, उसका उपयोग करना चाहिये। फलतः नये शासन विधान के चालू होते ही १ जनवरी, १९२१ को सरकार ने इन्हें "सर" की उपाधि से विभूषित किया। इसी वर्ष बंगाल में मंत्रिपद पर बैठे, और इसमें कोई संदेह नहीं कि बड़ी योग्यता पूर्वक अपना पद-भार सम्हाला। पर असहयोग आँधी में लोग इनकी वर्षों की देश सेवा भूल गये थे और ६ अगस्त, १९२५ में इनकी मृत्यु के समय इनके नाम पर रोने वालों की संख्या भी बहुत कम रह गयी थी। श्री विपिनचन्द्रपाल की भाँति सर सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के अन्तिम काल में उनका पूर्ण राजनैतिक ह्रास हो चुका था। यह सब समय के परिवर्त्तन का परिणाम है बंगाल का शेर विदा होते समय शेर नहीं रह गया था।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

चालीस वर्ष तक भारत के आकाश में चमकने के बाद जब बालगंगाधर तिलक नामक सूर्य्य अस्त होगया तो भारतवासी व्याकुल हो उठे। उन्हें ऐसा लगा कि अब भारत की सेवा में नेतृत्व कौन करेगा पर किसी भी देश में किसी के बिना कोई काम नहीं रुकता। ईश्वर एक न एक विभूति खड़ी कर ही देता है। तिलकयुग के बाद गाँधी-युग आया।

पर तिलक की राजनीति अपना निजी महत्त्व रखती है। उसमें महाराष्ट्र सुलभ घोर देशभक्ति के साथ अवसरवादिता भी है। जिस समय जो उपयुक्त हो, वही करना चाहिये और कोरे सिद्धान्त के पीछे पागल होकर नहीं दौड़ना चाहिये। इस विचार धारा को ही महाराष्ट्र की राजनैतिक सीख कहते हैं और तिलक के उपरान्त एन० सी० केलकर तथा श्री जयकर

ऐसे उत्कट देशभक्त गांधी के दृढ़ सिद्धान्तवाद से इसीलिये अलग हो गये थे। गाँधी के विचारों में हिन्दू या मुसलमानपन कुछ भी नहीं है। महाराष्ट्र के हिन्दू नेताओं में कुछ "हिन्दुत्व" भी राजनीति में मिश्रित हो जाता है।

पर तिलक की राजनीति अधिक महत्वपूर्ण है अथवा उनका पाण्डित्य यह कहना कठिन है। प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान मैक्समूलर इनकी संसार के श्रेष्ठ विद्वानों में गणना करते थे और इसमें कोई सदेह नहीं कि यदि राजनीति उनका समय न लेती तो वे विश्व-साहित्य को बड़ा धनी बना जाते। अपने पांडित्य का वरदान देने का अवसर उन्हें जेलयात्रा के समय में ही मिलता था और कारागार में बैठकर "आर्कटिक होम आव दि वेदज" नामक इनकी रचना ने संसार में खलबली मचा दी थी। इनका यह कथन था कि प्राचीन आर्य रूस के उत्तरी भाग में ही रहते थे और साइबेरिया में ही हमारे वेद-शास्त्रों की रचना हुई। श्रीमद्भागवद्गीता की इनकी व्याख्या "गीता-रहस्य" नाम से प्रकाशित हुई और इस ग्रंथ ने यह प्रमाणित कर दिया कि कृष्ण कर्मयोग के प्रवर्तक थे, सन्यास योग के नहीं। तिलक गीता के बड़े भक्त थे। आज महात्मा गांधी गीता के सब से बड़े प्रचारक हैं। गांधी जी का कथन है कि गीता का दूसरा अध्याय हरेक को नित्य पढ़ना चाहिये। गांधी जी की सार्वजनिक उपासना में गीता के श्लोक अवश्य पढ़े जाते हैं।

अस्तु, इस विद्वान राजनीतिक नेता का जन्म, सन् १८५६ में कोंकण के तट पर, रत्नागिरि नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कोंकण के चितपावन ब्राह्मणों का इस विषय में बड़ा महत्व है कि भारत को उन्होंने बड़े बड़े महा-पुरुष प्रदान किये हैं। मराठा साम्राज्य के कर्णधार पेशवा

चितपावन ब्राह्मण ही थे। महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, तथा आस्ट्रेलिया में भारत के वर्तमान हाई कमिश्नर डा० परांजपे सभी चितपावन ब्राह्मण थे। पेशवा के शासन में चितपावनों को शासन के उच्च पद प्राप्त थे। अतएव इस जाति के अधिकांश लोगों की नसों में उच्च रक्त, महत्व तथा विशिष्ट योग्यता बह रही थी। तिलक में महाराष्ट्रीयता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। महाराष्ट्र के पतन से उन्हें बड़ा क्लेश था और बड़ा परिश्रम करके उन्होंने महाराष्ट्र जाति को जागृत किया था। इसके लिये उन्होंने कई आयोजन किये जिससे मराठों में वीर-भाव फैले, वे संगठित हों तथा देशभक्ति का पाठ सीखें। उन्होंने शिवाजी की जयन्ती तथा भाद्रपद की चतुर्थी को गणेश उत्सव का आयोजन किया, यह गणेश-उत्सव मराठों के साथ भारत भर में फैल गया है। कहीं-कहीं पूरे पन्द्रह दिन तक यह समारोह मनाया जाता है। गणेश जी भारतीय सभ्यता में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। इनकी मूर्ति का असली अर्थ यह है कि जो गण-पति होना चाहे उसे गणेश के समान छोटी आँखों वाला होना चाहिये ताकि दूसरों का अवगुण बहुत कम देखे। हाथी ऐसे बड़े कान दूसरों की सब बातें सुन लें। सूँड़ से अर्थ है फूंक-फूंक कर पैर रखना। गहरा पेट हो, सब बातें पेट में पचा सके और चूहे की चाल चले। ऐसी सतर्कता से रहने वाले के ही दोनों हाथों में लड्डू रह सकता है।

अस्तु, तिलक ने मराठा जाति के पतन से बड़ी शिक्षा ग्रहण की थी। उनकी उम्र जब छ: वर्ष की थी, तब पेशवा को पुन: गद्दी दिलाने का असफल षड्यन्त्र हुआ था। समूची हवा में राजनीति भरी हुई थी। इसका प्रभाव उनके जीवन पर बहुत कुछ पड़ा।

गणित से तिलक को बड़ा प्रेम था। कालेज में उनकी प्रतिभा सब ने परख ली थी। सम्मान पूर्वक पढ़ायी समाप्त कर वे पूना में न्यू इंगलिश स्कूल में गणित के प्रोफेसर नियुक्त होगये, यहीं पर कार्य करते समय देश की अशिक्षा दूर करने का संकल्प लिया और शिक्षा के कार्य में वे बड़ी ही दिलचस्पी लेने लगे। पूना में ही इन्होंने "मराठा," नामक अंग्रेजी सप्ताहिक तथा केसरी नामक मराठा सप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। उन दिनों यह पत्र बड़े उग्र विचार का समझा जाता था। वैसा निर्भीक अखबार निकालना खतरे से खाली न था। पर तिलक का सबसे बड़ा गुण उनकी निर्भीकता थी। सन् १८९३ में प्रथम गणपति उत्सव हुआ और १८९४ में शिवाजी की जयन्ती मनायी गयी। इन दोनों उत्सवों का यही प्रारम्भ था। तिलक की राजनीति का अनुमान शिवाजी-जयन्ती के समय दिये गये भाषण से ही लग सकता है। इस प्रथम उत्सव में आपने कहा था :—

"अफजलखाँ की हत्या के बारे में अधिक अनुसंधान की जरूरत नहीं है। हमें मान लेना चाहिये कि शिवाजी ने षड्यन्त्र करके जान-बूझकर उनकी हत्या की······पर क्या अफजलखाँ को मार कर शिवाजी ने कोई पाप किया था? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत ही देगा। कृष्ण ने तो गीता में कह दिया है कि यदि निस्वार्थ भाव से अपने गुरू और संबंधियों को मार डाला जावे तो कोई पाप नहीं होता। ईश्वर ने विदेशियों को पीतल के अविनाशी पत्ते पर भारत की हुकूमत नहीं लिख दी है। शिवाजी ने अपनी जन्मभूमि से उन्हें निकाल बाहर करने का प्रयत्न मात्र किया। उन्हें लोभ का पाप लग हो नहीं सकता।"

उस समय की ऐसी उक्तियाँ कितनी साहस पूर्ण थीं, इनका अनुमान हम नहीं लगा सकते। राजनैतिक विचारों के आदान-

प्रदान के लिये पूना में "सार्वजनिक सभा" थी। महादेव गोविंद रानाडे इसके संस्थापक थे। तिलक इस सभा के उत्साही सदस्य थे। सरकार इनके कार्यों को बड़ी सतर्कता पूर्वक देख रही थी। जब १८८५ में बम्बई में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, तिलक की उम्र २६ वर्ष की थी। वे उसमें सम्मिलित नहीं हो सके थे। पर, १८८६ के अधिवेशन में सार्वजनिक सभा की ओर से वे उसमें प्रतिनिधि होकर गये और यहीं पर उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध वाक्य कहा था जो सारे भारतवर्ष में गूँज उठा। आपने कहा "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।" आज यह बात सभी कहते हैं पर उस समय इतनी उग्र बात कह कर तिलक ने रानाडे तथा गोखले तक को चौंकना कर दिया। वे नेतागण इतना आगे नहीं बढ़ना चाहते थे।

१८९६-९७ में देश में भयंकर अकाल पड़ा, विशेष कर डेकन में। १७९७ में बम्बई के सूबे में पहली बार प्लेग फैला। इस प्रकार चारों ओर हाहाकार मच गया और जनता काफी उत्तेजित हो उठी। जून, ९७ में एक युवक चितपावन ब्राह्मण दामोदर चापेकर ने दो ब्रिटिश अफसरों की पूना में हत्या कर डाली। तिलक का इस हिंसात्मक कार्य में कोई हाथ न था। पर, इस हत्याकांड ने भारत में आतंकवादी आन्दोलन का सूत्रपात कर दिया और तिलक को ही दोष लगाने वाले कम न थे।

पर वे अविचल रूप से अपने मार्ग पर चलते गये। स्वदेशी आन्दोलन के साथ ही ब्रिटिश वस्तु बहिष्कार का प्रस्ताव इन्हीं की प्रेरणा से सन् १९०५ में कांग्रेस के काशी के अधिवेशन में पास हुआ कांग्रेस अब विद्वान् लोगों की विवादशाला न रह कर, क्रियाशील संस्था बनने जा रही थी। तिलक उसे नर्म दलवालों के हाथ से खींच कर आगे बढ़ा रहे थे। तिलक की ही धुन का परिणाम था कि सन् १९०६ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन

में भारतीय राजनीति के भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि "हमें स्वराज्य चाहिये।" सूरत कांग्रेस में तिलक दल की हार हुई और सन् १९०७ में उनको कांग्रेस से कुछ समय के लिये अलग होना पड़ा। पर आराम से बैठने को न मिला। इन पर कई मुकद्दमें चले जिनमें जालसाजी तक का आक्षेप था। मुकद्दमों की झंझट से छूटते ही दूसरी विपत्ति आ पड़ी। सन् १९०८ में एक आतंकवादी के बम से एक अंग्रेज अफ़सर तथा उसकी धर्मपत्नी मारी गई। तिलक ने "केसरी" द्वारा इस कार्य का समर्थन-सा ही किया था। फिर क्या था। वे गिरफ्तार हो गये। अपनी सफ़ाई में पूरे २१॥ घन्टे बोलने पर भी वे राजदंड से न बच सके। छः वर्ष की कालेपानी की सजा हुई। बाद में यह सजा बदल दी गयी और वे मंडाले रखे गये। उनका साहित्यिक कार्य मंडाले के जेल में ही हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने साम्राज्ञी विक्टोरिया से कहकर इन्हें जल्दी ही छुड़वा दिया था। तिलक की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लग सकता है कि इनकी सजा का समाचार सुनते ही बम्बई में दंगा होगया और छः दिन में जाकर शान्त हुआ।

दस वर्ष कांग्रेस से पृथक रहने के बाद, सन् १९१६ में तिलक कांग्रेस अधिवेशन, लखनऊ में सम्मिलित हुए। इस अवसर पर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के लिये इन्होंने अद्भुत परिश्रम और कार्य किये। इनके ही प्रयत्न से कांग्रेस तथा मुसलिम-लीग में समझौता हो गया और कांग्रेस ने मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन भी स्वीकार कर लिया था। जो लोग तिलक को मुसलिम-विरोधी कहते थे, उनके लिये यह अचम्भे की बात थी। इस घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि तिलक पहले भारतीय थे, फिर हिन्दू।

१९१६ से १९१६ तक कांग्रेस का नेतृत्व तिलक के ही हाथ में रहा। १९१९ में भारतीय शासन सुधार के संबंध में संयुक्त पार्लामेंटरी कमेटी के सामने भारतीय हित का प्रतिपादन करने के लिये यह कट्टर ब्राह्मण लंदन भी गया था। उस समय इनकी प्रतिभा से लंदनवासी बड़े प्रभावित हुए थे। वहाँ से लौटकर वे अमृतसर की कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। नागपुर कांग्रेस ने गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन स्वीकार कर लिया। तिलक का स्वास्थ्य गिर चुका था और वे क्रियात्मक रूप से इस निर्णय का विरोध या समर्थन न कर सके। लोगों को ऐसा अनुमान है कि यदि अवसर होता तो तिलक असहयोग आन्दोलन का घोर विरोध करते और कांग्रेस के नेतृत्व के लिये उनमें तथा गाँधी जी में प्रतिद्वन्द्विता होती। पर, तिलक ऐसे महापुरुष को ईश्वर ने ही यह कह दिया कि अब तुम्हारा समय हो गया। अब गाँधी को काम करने दो। १ अगस्त १९२० से असहयोग आन्दोलन शुरू होने वाला था। गाँधी जी उसी दिन बम्बई पहुंचे और उनके हाथ में भारत का भार सुपुर्द कर तिलक उसी दिन परम धाम चले गये।

त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू

पौराणिक कथा है कि एक बार राधा को यह भ्रम हो गया कि सर्वस्व त्याग कर जंगल में घूमने वाला साधु ही सब से बड़ा महात्मा है। भगवान कृष्ण ने यह प्रमाणित कर दिया कि भोग विलास में अत्यन्ततः डूबा हुआ व्यक्ति भी कितनी बड़ी चीज हो सकता है। बाहर से लोग समझते हैं कि वह अपने सुखों में पूरी तरह से लिप्त हैं पर उस महापुरुष की आत्मा निर्लेप रूप से अपने कर्त्तव्य से सतर्क रहती है।

यही बात प० मोतीलाल जी के लिये कही जा सकती है। हमारी सम्पति में विगत सौ वर्षों में उनके ऐसा महान त्यागी, अनोखा व्यक्ति हमारे देश में पैदा ही नहीं हुआ। सुख तथा राजभोग के सभी साधनों का सुगमता पूर्वक उपभोग करते हुऐ, सम्राटों के लिये दुर्लभ ऐश्वर्य से जीवन बिताते

हुए पं० जी ने यकायक देश का करुण आर्त्तनाद और सुन सब कुछ त्याग कर खद्दरधारी, जेलयात्री, परिश्रमी तपस्वी बन गये। त्याग तो यहाँ तक किया कि अपनी विलास भूमि आनन्द भवन को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान कार्यालय बनाने के लिये दे दिया और इस स्थान का नाम अब स्वराज भवन है जवाहरलाल के रहने के लिये एक दूसरा बंगला पास में ही बनवा दिया गया। इस नये स्थान को भी आनन्द भवन कहते हैं।

मोतीलालजी उस युग में उत्पन्न हुए थे जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऐसे महाकवि, ब्रजेन्द्रनाथ सील ऐसे प्रकाँड विद्वान्, आचार्य डा० प्रफुल्लचन्द्रराय ऐसे रसायनिक, सर जगदीशचन्द्र ऐसे वैज्ञानिक तथा प० मदनमोहन मालवीय ऐसे कर्मठ कार्य-कर्त्ताओं ने जन्म लिया था। इस रत्नावलि में केवल मालवीयजी बचे हैं, शेष सबने महा प्रयाण किया। उसी युग के आसपास के प्रतिभाशाली लोगों में राजा नरेन्द्रनाथ तथा कर्नल सर कैलाश हक्सर हैं। पिछले शिमला सम्मेलन के अवसर पर हमसे एक मित्र ने सत्य कहा था कि राजा नरेन्द्रनाथ की मृत्यु के बाद सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा अथाल-बुद्धि की बैठक में अपनी मधुर बातों से आकृष्ट कर लेने वाले पुराने रईसों की यादगार केवल हक्सर रह गये हैं। उनके बाद फिर ऐसे लोगों को देखने के लिये आँखें तरसेंगी।

पण्डित जी में एक विशेष नफासत, शिष्टता तथा योग्यता थी। स्वभाव अमीराना, प्रवृत्ति राजसी तथा कार्य-प्रणाली शाहंशाही थी। वे कानून के पंडित थे और इतने बड़े पंडित थे। कि अपने समय में उन्होंने समूचे देश के वकीलों को अपने सामने बाजी न मारने दिया। वैधानिक ज्ञान अपार था। तर्क और बहस की मार से विरोधियों को घायल कर

देने की अद्भुत क्षमता थी और यह योग्ता तो ऐसे उन्नत थी कि लोगों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि पंडितजी ऐसी विभूति को भारत में उस समय जन्म लेना चाहिये था जब वह स्वतन्त्र होता या उन्हें ब्रिटेन में पैदा होना चाहिये था। वहाँ पर वे अवश्य बार बार प्रधानमंत्री चुने जाते क्योंकि उनकी पार्लमेंटरी प्रतिभा भारत के लिये आवश्यकता से अधिक अपूर्व थी। केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा में वैसे दिन फिर कभी न आये जब विट्ठलभाई पटेल ऐसा महापुरुष उसका अध्यक्ष था और पंडित मोतीलाल नेहरू ऐसे महान पार्लमेन्टेरियन विरोधी पक्ष के नेता थे। उनकी व्याख्यान-शक्ति तथा कटु आलोचना की प्रणाली को कोई नहीं पा सका और श्री भूलाभाई देसाई ऐसे सुयोग्य विरोधी नेता उनके सामने बच्चे से प्रतीत होते हैं। असेम्बली के उस जमाने में लाजपतराय ऐसा पंजाब का शेर, मालवीयजी ऐसा ग्लैडस्टन प्रणाली का व्याख्याता तथा जिडसे ऐसे यूरोपियन नेता मौजूद थे, पर मोतीलालजी के सामने सब फीके थे। इसी सदस्यता के समय वे भारत के फौजी विषयों की जाँच के लिये सन् १९२६ में नियुक्त स्कीन कमेटी के सदस्य थे। आपने इस समय अपने सेक्रेटरी पद पर श्री सम्पूर्णानन्दजी को रखा था। पंडितजी ने इस कमेटी में इतना महत्वपूर्ण काम किया कि बड़े बड़े फौजी अधिकारियों को इनका लोहा मानना पड़ा।

मोतीलालजी गांधीजी के समान जन समूह के नेता नहीं थे। गांधीजी की व्यवहारिक, सैद्धान्तिक कार्य प्रणाली से उनका मेल जोल वास्तव में न था। गांधीजी के लिये स्वराज्य आत्मा की वस्तु थी। उसका आध्यात्मिक महत्व था। मोतीलालजी के जीवन में धर्म ने कभी प्रभावशाली स्थान नहीं पाया। उनके परिवार में पूजा-पाठ तथा धर्म का काम औरतों की ज़िम्मेदारी समझा जाता था। वे ईश्वर को मानते थे। बस इससे अधिक

धार्मिक आडम्बरों से काफी दूर थे। समाज की हरेक बुराई के प्रति उनका स्वाभाविक विद्रोह था और खान-पान में भी भेद-भाव करने को तय्यार न थे। यूरोपीय वेशभूषा तथा शिष्टता भी इन्हें बड़ी रुचिकर थी तथा यूरोपियनों से काफी घनिष्ठता होने के कारण अंग्रेजों की बहुत सी निजी आदतें इन्हें बड़ी पसन्द थीं। रहन-सहन पश्चिमीय था, विचार भी पश्चिमीय। अपने एकमात्र लाड़ले पुत्र जवाहर का अभिभावक भी अंग्रेज ही नियुक्त किया गया तथा वे पढ़ने के लिये इंगलैंड भेजे गये थे। ऐसे व्यक्ति के मन पर राजनीतिक क्षेत्र में पश्चिम की पूरी छाप पड़ना स्वाभाविक था और वे शुद्ध राजनैतिक अधिकार के लिये राजनैतिक युद्ध करना चाहते थे। इसीलिये समय काल के अनुसार अपनी रीति नीति को बदलने में इन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। अतएव गांधी-नेहरू का राजनैतिक मेल बड़ी विचित्र घटना है और इसका एक मात्र कारण है दोनों की प्रगाढ़ मित्रता, एक दूसरे के प्रति सद्भाव तथा समय की आवश्यकता देखकर एकता पूर्वक चलने की शक्ति। गांधीजी उम्र में नेहरूजी से ८ वर्ष छोटे थे, वे मोतीलालजी का बड़ा आदर करते थे। दोनों में परस्पर मनोविनोद और व्यंग भी काफी होता था। राजनैतिक मित्रता ने पारिवारिक मैत्री का स्थान ले लिया और जब मोती-लालजी के शव को गांधी ने कन्धा दिया तो यह प्रकट हो गया कि मोतीलाल के स्थान पर जवाहरलाल के लिये गांधीजी मौजूद हैं। जवाहरलाल ने अपने आत्म चरित्र में लिखा है कि उनके पिता की मृत्यु के बाद गांधीजी की उपस्थिति से उनकी माता स्वरूपरानी, श्री कमला को तथा स्वयं उन्हें कितनी सान्त्वना मिली थी।

इस त्यागमूर्त्ति तथा महात्मा गांधी में एक चीज की बड़ी समानता है। दोनों ही अपने निकट सम्पर्क में आने वालों में

पारिवारिक रुचि लेने लगते थे तथा इतनी अधिक आत्मीयता पैदा कर लेते थे कि अनायास उनके लिये जीवन उत्सर्ग कर देने की इच्छा होती है। मोतीलालजी इसमें और भी आगे बढ़े हुए थे। कहते तो यहाँ तक हैं कि अपने ऊपर निर्भर करने वालों के उचित अनुचित हर प्रकार के संकटों में वे साथ देते, उसे आगे बढ़ाने की कोशिश करते और उसके लिये स्वयं अपने को संकट में डाल देते। संयुक्त प्रान्तीय मनोवृत्ति इस प्रकार की पारिवारिक सम्पर्कता अधिक पसन्द करती है। इसीलिये पंडितजी का प्रान्त में जितना मान और आदर था और अखिल भारतीय नेता होते हुए भी प्रान्त पर उनका जितना आधिपत्य था, उतना किसी का नहीं। उन्होंने युवकों को सहारा देकर नेता बना दिया। सहायता देकर सम्पन्न बना दिया, समर्थन करके महत्वशाली बना दिया। जवाहर आज उनसे अधिक लोकप्रिय भले ही हों पर युक्तप्रान्त के असली नेता का वह रूप नहीं प्राप्त कर सके हैं और प्रान्तीयों के लिये उतने निकट नहीं हैं जैसा कि उनसे आशा करनी चाहिये। पंडितजी बुद्धिमानों के नेता थे पर अपने गुणों के कारण वे अनायास जनता के नेता होगये। उनकी मिहमानदारी तो अनोखी थी। मेहमानों की बड़ी देख रेख करते। मरने के कुछ ही दिन पूर्व, मरण शय्या से ही वे कमला नेहरू पर इसलिये बिगड़ उठे थे कि उन्हें देखने के लिये आने वाले एक सम्भ्रान्त मेहमान से पहले ही जलपान के लिये नहीं पूछा गया था।

इसी पारिवारिकता के कारण वे अपने एकमात्र पुत्र जवाहर को बड़ा प्यार करते थे। यह प्यार इतना उत्कृष्ट था कि जवाहर की राजनीति तथा उग्रता को भी उन्हें गले लगाना पड़ा। पंडित-जी का असहयोग आन्दोलन में शामिल हो जाना बड़ा भारी बात थी। जो वास्तव में नर्म विचार का हो, क़ानूनी लड़ाई ही

जिसे पसन्द हो, वह सत्याग्रही बन बैठा। इस दिशा में जवाहर का प्रभाव अवश्य रहा होगा। भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिलाने के वे पक्षपाती थे। पूर्ण स्वतन्त्रता की बात उन्होंने सोची भी नहीं। पर, जब नेहरू कमेटी ने भारत के भावी शासन विधान की रूपरेखा तय्यार की तो जवाहरलाल का उनसे इसी विषय में मतभेद होगया कि रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य भारत का उद्देश्य रखा गया था। अन्त में पिता पुत्र में इस बात पर समझौता होगया कि यदि ३१ दिसम्बर १६२६ तक ब्रिटिश सरकार नेहरू रिपोर्ट के अनुसार अधिकार न दे तो पूर्ण स्वतन्त्रता ही भारत का उद्देश्य और लक्ष्य घोषित कर दिया जावे। लाहौर कॉंग्रेस में, जब जवाहरलाल सभापति थे, निश्चित तिथि की अर्द्धरात्रि को पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा की गई और उस समय पिता पुत्र प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठे थे।

भारत की राजनीति में पंडितजी ने कांग्रेस के जन्म काल से रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १६०७ में वे युक्त प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के अध्यक्ष भी रह चुके थे। सन् १६१६ तक वे कांग्रेस के उसी प्रकार के नेता थे जो अकबर कवि के शब्दों में:—

"रंज लीडर को बहुत है
मगर आराम के साथ।"

पर, जलियाँवाला बाग की घटना और रौलट ऐक्ट और अमृतसर की कांग्रेस ने इनकी मनोवृत्ति बदल दी। स्वतन्त्र विचार तो पहले से ही थे और इसीलिये सन् १६१२ में उन्होंने प्रयाग से इंडिपेंडेंट नामक अंग्रेजी दैनिक निकलवाया था। कुछ दिनों बाद यह बन्द होगया था पर १६१६ से यह अखबार फिर कुछ वर्षों के लिये प्रकाशित होने लगा था। पं० जी भी

गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में शरीक हो गये और इस आन्दोलन की संयुक्त प्रान्त में सफलता का श्रेय पंडित जी के जादू भरे व्यक्तित्व को भी है। पर, प्रान्त के इस बेताज के बादशाह ने अंग्रेजों, नवाबों, ताल्लुकेदारों से अपना निजी सम्बन्ध जारी रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि हर श्रेणी के लोगों पर इनका प्रभाव बना रहा। सन् १६२१ में इनकी पहली जेलयात्रा हुई। इस अनहोनी बात ने देश के सभी लोगों की आँखें खोल दीं। मोतीलालजी का ऐश्वर्य, सुख छोड़कर, विलायती वेश छोड़कर, खद्दरधारी बन जाना और उनकी जेल-यात्रा सबको प्रभावित करने के लिये पर्य्याप्त थी। देश विदेश में हलचल मच गई। पर, असहयोग की पहिली आंधी ठण्डी होते ही पण्डित जी अपनी वधानिक युद्ध-नीति पर आ गये और बड़ा प्रयत्न करके इन्होंने गांधी जी को राजी कर लिया कि जो कांग्रेसी कौंसिलों में जाना चाहें, वे ऐसा कर सकें। इनका लक्ष्य था कौंसिलों में जाकर अड़ङ्गा नीति से काम लेना। बंगाल के शेर देशबन्धु सी० आर० दास के साथ मिलकर उन्होंने कांग्रेस के अन्तर्गत ही स्वराज्य पार्टी की रचना की। उस समय कौंसिल के प्रवेश के सबसे प्रबल विरोधी श्री राजगोपालाचारी, श्री राजेन्द्र प्रसाद आदि थे। पर मोतीलालजी के आगे किसकी चलती? १६२३ के कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में स्वराज्य पार्टी को चुनाव में कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी गई। इसके बाद चुनाव में स्वराज्य पार्टी को बड़ी सफलता मिली। केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में मोतीलालजी आदि पहुंच गये। बात बात पर सरकारी पक्ष की हार से सरकार का काम न रुका। सभी ठुकराये प्रस्तावों को अपने विशेषाधिकार से वाइसराय पास कर देते थे। सरकारी नीति के प्रति विरोध प्रकट करने के लिये कुछ दिनों बाद स्वराज्य पार्टी वालों ने अपनी मेम्बरी से १६२६

में त्यागपत्र दे दिया]। लोगों का अनुमान है कि ऐसा नहीं करना चाहिये था।

पर, मोतीलाल जी अपने यश की पराकाष्ठा पर सन् १६२८ में पहुँचे। भारत के भावी शासन-विधान का मस्विदा तय्यार करने के लिये सर्वदल सम्मेलन का आयोजन हुआ था। इसका आयोजना सन् १६२७ के कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में डा० अन्सारी की अध्यक्षता में हुआ था। कांग्रेस हर प्रकार के राजनैतिक दलों में एकता स्थापित कर, सबकी राय से एक शासनविधान तय्यार कर सम्राट की सरकार के सामने पेश करना चाहती थी। पण्डित जी इसके अध्यक्ष बनाये गये। इस सम्मेलन ने विधान निर्माण के लिये एक कमेटी बना दी। सम्मेलन तथा कमेटी के अध्यक्ष पं० मोतीलाल नेहरू के नाम पर इस कमेटी को भी नेहरू कमेटी कहते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेहरू जी ने अद्भुत परिश्रम कर जो सर्व सम्मत मस्विदा तय्यार किया था, वह भारत की राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण क़दम था। सरकार ने इस सर्व सम्मत मस्विदे को न माना यह दूसरी बात है पर देश में इस महान् कार्य से बड़ी जागृत तथा बड़ा उत्साह बढ़ा। मांटेगू चेम्सफोर्ड सुधार को, दस वर्ष के अनुभव के बाद दुहराने का वचन ब्रिटिश सरकार दे चुकी थी। वह अवधि समाप्त होने के पूर्व ही कांग्रेस ने सर्व सम्मत शासन विधान पेश कर दिया। मोतीलाल जी का यश चरम सीमा पर पहुँच गया। उसी वर्ष यानी १६२८ में वे कलकत्ता में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के सभापति हुए। उस समय इनका जो शानदार स्वागत वहाँ किया गया, वैसा भारत में किसी को नसीब न हुआ। ३९ घोड़ों को जोत कर इनकी सवारी के लिए रथ तय्यार किया गया था।

पर, इतनी अधिक मिहनत इनका बूढ़ा शरीर न सम्हाल सका। सन् १६२६ से ही इनको दमा की शिकायत हो गयी थी। जेल यात्रा ने स्वास्थ्य चौपट कर दिया था। पं जवाहरलाल की बारबार की जेल यात्रा से पिता के कलेजे को गहरी चोट लगी थी। इसी बीच, सन् १६३० में जब कि इनका स्वास्थ्य काफी खराब हो चुका था, सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ गया। सभी के मना करने पर भी पण्डित जी जेल चले गये पर स्वास्थ्य की खराबी के कारण सरकार को इन्हें छोड़ना पड़ा। उस समय इन्होंने वायसराय के पास तार भेज कर अनुरोध किया था कि वे न छोड़े जावें। जेल से छूट कर आते ही, जवाहरलाल की पाँचवीं जेल यात्रा हुई बीमार पिता का दिल टूट गया। स्वास्थ्य और भी खराब हो गया। अन्त में जवाहरलाल छोड़े गये, गांधी जी भी छूट आये पर सब प्रयत्न करने पर भी कोई उन्हें बचा न सका। ६ फरवरी, १९३१ को उनका स्वर्गवास हो गया।

कुल और वंश भी बड़ी भारी चीज होती है। मोतीलाल जी का वंश सन् १८५७ के गदर की चपेट में तबाह होते होते बचा था। मोतीलाल जी ने जीवन का चढ़ाव उतार देखा था। अपने परिश्रम से सब कुछ प्राप्त किया था। वे व्यक्ति और समय, दोनों का मूल्य जानते थे। मुगल सल्तनत का दीपक जब बुझने ही वाला था, दिल्ली में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से मुगल दरबार में लक्ष्मीनारायण नेहरू नामक सरकारी वकील थे उनके पुत्र गंगाधर नेहरू दिल्ली के कोतवाल थे। सन् १८५७ के गदर में बड़ा कठिनाई से किसी प्रकार अपनी जान बचा कर सारा परिवार लेकर वे आगरा भाग आये और वहीं, सन् १८६१ में, ३४ वर्ष की उम्र में इनका देहान्त हो गया। इसी वर्ष

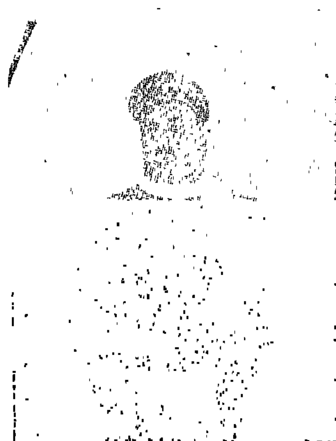
पिता की मृत्यु के तीन महीने बाद, ६ मई १८६१ को, पं० मोतीलाल नेहरू का जन्म हुआ।

पण्डित जी के दो भाई और थे। ज्येष्ठ बन्धु वंशीधर ने सरकारी नौकरी कर ली। मझले भाई नन्दलाल राजपूताना की खेतरी रियासत के दीवान हो गये। दस वर्ष तक वे इस पद पर रहे और यहीं क़ानून का अध्ययन कर, उसकी परीक्षा पास कर वे आगरा में वकालत करने लगे। इलाहाबाद में हाईकोर्ट खुलते ही वे आगरा छोड़कर सकुटुम्ब प्रयाग चले आये।

नन्दलाल ने ही मोतीलाल जी को बड़े स्नेह तथा यत्न से पाला था। वास्तव में मोतीलाल जी को पिता का अभाव कभी न अखरा। भाई के स्नेह ने उन्हें सब कुछ दे दिया था। पण्डित जी भाई के पास रह कर ही विद्याध्ययन करते थे पर बुद्धि अत्यन्त प्रखर और तीव्र होते हुए भी स्कूल कालेज की पढ़ाई में उनका मन नहीं लगता था। अन्त में सब पढ़ाई छोड़ कर वे हाईकोर्ट की वकालत की परीक्षा में बैठे और बहुत अच्छे नम्बरों से पास होने के कारण इनको स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। अब मोतीलाल जी ने वकालत का पेशा शुरू कर दिया। नन्दलाल जी की वकालत काफी चमकी हुई थी। वे मोतीलाल जी को अपना काम देने लगे। तीन वर्ष तक कानपुर रह कर ही पण्डितजी ने वकालत की फिर प्रयाग चले आये। नन्दलाल जी उनको अच्छी तरह से काम सिखा समझा भी न पाये थे कि उनको स्वर्ग से बुलावा आ गया और वे संसार से विदा हो गये। बड़े भाई की मृत्यु से मोतीलाल जी के हृदय पर गहरी चोट लगी। उन्होंने भयभीत होकर देखा कि संसार में वे एकाकी हैं। उनके ऊपर समूचे परिवार का भार है। पर, साहसी युवक ने बड़े धैर्य से काम लिया। बड़ी निष्ठा के साथ वे वकालत करने लगे और कुछ ही समय में उनकी गणना बड़े

अच्छे वकीलों में होने लगी। थोड़े ही वर्षों में भारत के वकीलों में श्रेष्ठ समझे जाने लगे और शायद ही किसी भारतीय ने इस पेशे से इतना पैदा किया हो और इतनी शान की जिन्दगी बिताई हो जितना पण्डित जी ने।

सब कुछ त्याग कर वे राजनीति में आये थे—हमें तपस्या का आदर्श सिखाने। उनका स्वभाव शुरू से ही जिद्दी था और जो संकल्प करते, उसे पूरा करते। उन्होंने भारत की सेवा का व्रत लिया था और उसे पूरी तरह से निभाया भी।



महात्मा गोपालकृष्ण गोखले

गोपालकृष्ण गोखले का जन्म ९ मई १८६६ को कोंकण के चितपावन ब्राह्मण कुल में, रत्नागिरि जिले के काटलुक नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता कृष्णराव गोखले ने कागल के एक मराठा सरदार के यहाँ साधारण नौकरी कर ली और किसी प्रकार अपने परिवार का भरण पोषण करते रहे। १८७६ में दो बच्चे छोड़ कर उनका देहान्त होगया। अब परिवार के लिये भरण पोषण का कोई सहारा न रहा। ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दकृष्ण गोखले की उम्र उस समय १८ वर्ष की थी। इस साहसी युवक ने बड़े धैर्य से काम लिया। कोल्हापुर रियासत में इसने १५) रुपये मासिक की नौकरी कर ली। इस छोटी सी आमदनी में से ८) रुपया महावार बचाकर वे अपने छोटे भाई गोपाल को पढ़ने का खर्च भेजते थे। गोविन्द ने निश्चय किया

था कि यदि उनकी शिक्षा का कार्य असमय ही समाप्त हो गया तो कम से कम वे अपने छोटे भाई को तो पढ़ायेंगे ही। पर ८) रुपये माहवार से तो पढ़ाई का खर्चा चलना बड़ा कठिन था। बालक गोपाल ने एक वक्त भोजन कर, अपने हाथ से जूठे बर्तन साफ़ कर बड़े परिश्रम से अपनी शिक्षा का काम जारी रखा और इतनी ही आमदनी से बी० ए० पास कर लिया। कुछ दिनों तक वे कोल्हापुर में पढ़े, फिर डेकन कालेज में और अन्त में बम्बई के एलफ़िन्स्टेन कालेज से बी० ए० की परीक्षा पास की। इस सफलता के बाद इनको २०) रुपये माहवार की छात्र-वृत्ति सरकार की ओर से मिलने लगी। गोपाल बड़े तेज विद्यार्थी थे। गणित में इनकी बड़ी प्रगति थी। पता नहीं क्या बात है कि चितपावन ब्राह्मणों में गणित के कई महान् विद्वान् निकले जैसे तिलक, परांजपे आदि।

सौभाग्य से गोखले को ३५) रुपये मासिक की एक नौकरी मिल गई। न्यू इङ्गलिश हाई स्कूल में वे सहायक अध्यापक नियुक्त हुए। उस समय इस आमदनी को ही इन्होंने बहुत बड़ी रक़म समझा और उसका अच्छा खासा भाग अपने उदार भाई को नियमित रूप से भेजने लगे। गोपाल की पढ़ाई के कारण गोविन्द काफ़ी क़र्ज़दार हो गये थे।

अस्तु, यह स्कूल डेकन एजूकेशनल सोसायटी के अन्तर्गत था। यह संस्था तिलक तथा आगरकर के प्रयत्न से खुली थी। इसका उद्देश्य था शिक्षा का प्रचार और इस कार्य के लिये वह केवल शिक्षा प्रचार के प्रेमी साधु अध्यापकों की टोली रखना चाहती थी। शिक्षा प्रचार का इस प्रकार का व्रत लेने वाला हरेक अध्यापक २५ वर्ष तक संस्था में काम करने की प्रतिज्ञा करता था तथा केवल ७५) रुपये मासिक वृत्ति उसे स्वीकार करनी पड़ती। देश तथा शिक्षा प्रेम की भावना से भरे हुए

गोखले को यह कार्य बड़ा पसन्द आया और इनके अनुरोध पर इनके बड़े भाई गोविन्द ने धन का मोह छोड़ कर गोपाल को अपना व्रत पूरा करने की आज्ञा दे दी। वास्तव में गोपाल का बड़ा भाई ऐसा आदर्श बन्धु आजकल के जमाने में विरला ही मिलता है। गोखले इसी इङ्गलिश स्कूल में काम करते रहे। कुछ ही वर्षों में यह स्कूल फर्ग्यूसन कालेज हो गया और भारत की सेवा करने वाले बड़े बड़े सपूत यहाँ से पढ़ कर निकले। इसी संस्था में अध्यापन कार्य करते समय गोपाल का परिचय तत्कालीन सबसे प्रसिद्ध भारतीय, बम्बई हाईकोर्ट के जज महादेव गोविन्द रानाडे से हुआ। रानाडे से गोपाल की प्रतिभा छिपी न रह सकी और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। गोपाल को एक महान पुरुष का संरक्षण और आश्रय प्राप्त हो गया। जो शिक्षा गोखले को रानाडे से प्राप्त हुई वह उनकी भावी देश-सेवा में बड़ी सहायक हुई। हर बुधवार को गुरू-शिष्य मिलते थे और शिष्य के सुपुर्द नये नये काम होते थे। बीमारी हो चाहे कोई भी जरूरी काम आ पड़े, गोखले को गुरू का काम करना ही पड़ता था। रानाडे ने गोपाल को तत्कालीन बम्बई की सबसे प्रभावशाली संस्था "सार्वजनिक सभा" का एक मन्त्री बना लिया। काम लेने में रानाडे इतने कठोर थे कि कहा करते थे कि ज्वर तो दवा से भाग सकता है पर एक दिन की हानि पूरी नहीं हो सकती। रानाडे के महान् व्यक्तित्व ने गोखले को ऐसे साँचों में ढाल दिया था कि आगे चलकर सन् १८८६-६१ के बीच में जब तिलक तथा आगरकर का झगड़ा हो गया और तिलकजी डेकन एजूकेशनल सोसायटी से पृथक् हो गये तो गोखले के परिश्रम तथा प्रयत्न से ही फर्ग्यूसन कालेज की रक्षा हो सकी। तिलक इस कालेज में गणित के प्रधान अध्यापक थे। उनके मित्र नामजोशी संस्था के लिये पैसा इकट्ठा

करके लाते थे। इन दोनों के एक साथ त्यागपत्र से विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी। पर इन दो महारथियों के काम को परिश्रमी गोखले ने बड़ी खूबसूरती के साथ इकेले ही सम्भाल लिया।

किन्तु, इस घटना से गोखले के राजनैतिक जीवन को गहरा धक्का पहुँचा। तिलक का महत्व, उनकी उग्रवादिता, मराठा जाति पर इनका प्रभाव यह सब कुछ गोखले के प्रतिकूल हो उठा। रानाडे नर्म विचार के नेता थे। गोखले ने उनसे राजनीतिक नर्मी सीखी थी। तिलक का "केसरी" ऐसे नर्म विचार वालों की खिल्ली उड़ाने से बाज नहीं आता था। दुर्भाग्य से गोखले की सामाजिक सुधार-वृत्ति भी उनके प्रतिकूल प्रमाणित हुई। वे अछूतोद्धार, बाल-विवाह-विरोध आदि के समर्थक थे। घोर सनातनी महाराष्ट्र ब्राह्मणों के लिये यह असह्य था। इसके अतिरिक्त अपनी पत्नी की असाध्य बीमारी के कारण परिवार वालों के आग्रह पर इन्होंने एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह कर लिया था। यह कार्य इनके लिये बड़ा हानिकर साबित हुआ। सारा महाराष्ट्र इनका विरोधी हो उठा। गोखले महाराष्ट्र के नेता बनने का सब अवसर खो बैठे। पर, इससे भारत का ही कल्याण हुआ। वे भारत के नेता बन बैठे। यह अवश्य है कि यदि गोखले तथा तिलक का राजनैतिक मेल रहता तो देश का अधिक कल्याण होता। फिर भी, गोखले की राजनीति ने जिन महापुरुषों को प्रभावित किया उनमें महात्मा गांधी मुख्य हैं। गांधी जी गोखले को अपना राजनैतिक गुरू मानते थे। गांधी पर गोखले का इतना प्रभाव था कि यदि वे चाहते तो उनको अपनी "भारत सेवक समिति" का आमरण सदस्य बना लेते।

राजनीति में इनका प्रथम प्रवेश सन् १८९० में हुआ। इस वर्ष कांग्रेस के अधिवेशन में इन्होंने नमक कर को घटाने के

प्रस्ताव पर बड़ा सुन्दर भाषण दिया था। १८६२ में कांग्रेस के अधिवेशन में सरकारी नौकरियों में अधिक से अधिक भारतीय लिये जाने के पक्ष में इनका बड़ी विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ था। १८६६ में वे वेलबी कमीशन के सामने भारत सरकार के बजट पर गवाही देने गये थे और बड़े परिश्रम के साथ सरकारी आय-व्यय के आँकड़ों का अध्ययन कर, इन्होंने यह प्रमाणित कर दिया था कि आमदनी से कहीं ज्यादा खर्च हो रहा है और सरकारी बजट का रवैया ठीक नहीं है। सरकार के बजट पर गोखले प्रतिवर्ष कड़ी छानबीन करते रहे और इनकी मृत्यु के बाद, वर्षों तक, इनके समान परिश्रम कर, इस विषय में छानबीन करने वाला पैदा न हुआ।

विलायत यात्रा ने गोखले के दृष्टिकोण को व्यापक कर दिया था। और अब वे महाराष्ट्र के उद्धार का सपना देखना छोड़ कर भारत के उद्धार के लिये कृत संकल्प होगये। १८६६ में वे बम्बई का व्यवस्थापक सभा के सदस्य चुने गये। उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों तथा प्रजापक्ष के कार्यों की देश में कीर्ति फैल गयी और क्रमशः समूचे भारत की आँखें इस पंडित राजनीतिज्ञ की ओर उठने लगी। गोखले की अद्भुत वाक्पटुता तथा व्याख्यान शक्ति ने इनके श्रोताओं पर ऐसा जादू डाल रखा था कि सभी इनका व्याख्यान सुनने के लिये लालायित रहते। कहते तो यही हैं कि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य में तीन ही महान व्याख्याता थे—श्रीमती बेसेंट, गोखले तथा मदनमोहन मालवीय। इङ्गलैंड में इस जोड़ का कोई व्याख्याता न था।

सन् १६०२ में गोखले सर फीरोजशाह मेहता के स्थान पर इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गये। मरने तक वे इसके सदस्य बने रहे और १३ वर्ष की अपनी इस मेंबरी में इन्होंने बड़ा काम किया। इन्हीं के प्रयत्न से १६०६ में नमक कर

बहुत घटा दिया गया। भारतीय सेना में अफ़सरों की तनख्वाहें ठीक दर्रे पर आगयीं। मनमाना कर लगाने की सरकारी नीति समाप्त कर करभार नियमित किया गया। लार्ड कर्ज़न ऐसे स्वतंत्र डिक्टेटर वाइसराय को भी इस विकट राजनीतिज्ञ का लोहा मानना पड़ा। भारत सरकार को प्रवासी भारतीयों की समस्या में रुचि लेनी पड़ी। कुली प्रथा बन्द करनी पड़ी। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह आन्दोलन के समय गोखले वहाँ भी गये। और गांधीजी से यहीं इनकी मुलाकात हुई। गांधीजी को गोखले से बड़ी सहायता मिली। सन् १९०८ के मिन्टो-मार्ले सुधार में भी गोखले का बहुत बड़ा हाथ था। और सर्वोपरि, ग़रीबी में पले इस महापुरुष ने ग़रीब भारतीयों की पुकार को पहली बार लंदन तक पहुँचा दिया। बंग-भंग के समय गोखले ने अथक परिश्रम किया था और तब तक चैन नहीं लिया जब तक वह प्रस्ताव रद्द नहीं होगया।

इनके जीवन का सबसे बड़ा रचनात्मक कार्य था "सर्वेन्टस आव इंडिया सोसायटी" की रचना। इन्होंने यह देख लिया था कि भारत को ऐसे निस्पृह तथा लगन के साथ काम करने वालों की जरूरत है जो केवल अपना खर्च भर लेकर अपना समूचा समय देश की सेवा में बितायें। आज इस संस्था के अन्तर्गत सैकड़ों विद्वान तथा त्यागी भारतीय देश में चारों ओर फैल कर महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। आज इस संस्था के सभापति प्रसिद्ध लोकसेवक पं० हृदयनाथ कुंजरू हैं। डा० इक़बाल नारायण गुर्टू आदि भी इसी संस्था के आमरण सदस्य हैं। इस भारत सेवक समिति की स्थापना सन् १९०५ में हुई थी।

आज की राजनैतिक जागृति के युग में गोखले का महत्व समझना कठिन है। राज्य के निर्माताओं की टोली हरेक युग में अपने समय की आवश्यकता के अनुसार अपना कर्त्तव्य

पूरा करती है तथा चली जाती है। उसका लेखा जोखा मिलाना असम्भव है एक छोटे से लेख में किसी महापुरुष का चरित्र चित्रित कर यह समझ सकना कठिन है कि उसने कितना तथा क्या काम किया। पर भारतीय इतिहास साक्षी है कि १९ फरवरी, १९१५ को गोखले की मृत्यु से हमारा कितना बड़ा तथा सच्चा सेवक उठ गया। यदि गोखले को मस्तिष्क का काम अत्यधिक न करना पड़ता और वे अनिद्र रोग तथा मधुमेह से पीड़ित न होते और उन्हें काफी विश्राम मिलता तो वे अवश्य दीर्घायु होते।



राइट ऑनरेबुल वी० श्रीनिवास शास्त्री

फ़रवरी १६४५ में भारत के प्रमुख व्यवसायिकों का एक प्रतिनिधि-आस्ट्रेलिया गया हुआ था। इस मंडल के एक प्रमुख सदस्य लाला राम रतन गुप्त, एम० एल० ए० (केन्द्रीय) ने हमें बतलाया था कि "आस्ट्रेलिया निवासी अंग्रेज तथा यूरोपियन भारतियों को जंगली समझा करते थे। पर जब कुछ वर्ष पूर्व भारत से श्रीनिवास शास्त्री नामक व्यक्ति वहाँ पहुँचा तो उसकी बुद्धिमता, पांडित्य तथा अद्भुत व्याख्यान-शक्ति देखकर वे दंग रह गये। वे सोचने लगे कि क्या भारतीय ऐसे ही विद्वान् और योग्य होते हैं।"

वास्तव में श्री श्रीनिवास शास्त्री ऐसे ही योग्य व्यक्ति हैं। प्रवासी भारतियों के हितों की रक्षा के लिये अथक परिश्रम करने वाले इस व्यक्ति के व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि शत्रु से शत्रु भी

इनका लोहा मान लेता है। दक्षिण अफ्रिका में, अभी कुछ वर्ष पूर्व आप भारत सरकार की ओर से एजेन्ट जनरल नियुक्त हुए थे। इस पद पर रह कर इन्होंने वहाँ के सभी भारत-विरोधियों का मन मोह लिया था और इनके अथक परिश्रम के कारण ही वहाँ के भारतीयों की समस्या अधिक गंभीर रूप न धारण कर सकी। इनकी सादगी ही उनका सबसे बड़ा गुण था। कहते हैं कि एक बार जहाज़ पर यात्रा करते समय जब एक अंग्रेज को मालूम हुआ कि यह व्यक्ति न तो सिगरेट पीता है, न शराब, न नाच देखता है, न नाचता है, सिनेमा थियेटर का शौक़ नहीं और ताश भी नहीं खेलता तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने शास्त्री जी से कहा कि *"तुम्हारा जीना बेकार है, तुम तो समुद्र में डूब कर प्राण दे दो तो अच्छा है।"*

पर, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति ऐसी ही सीधी सादी तबीयत को नसीहत देती है। उसकी सभ्यता में जिसने सादगी न सीखा, उसका जन्म वृथा है। शास्त्री के प्रबल से प्रबल शत्रु भी उनके चरित्रबल का लोहा मानते थे। यह सभी जानते हैं कि शास्त्री कट्टर वैष्णव तथा सनातनी ब्राह्मण थे पर उनका दृष्टिकोण व्यापक था और वे समय की गति के अनुसार समाज का निर्माण और नियंत्रण स्वीकार करते थे। वे आदर्श के पुजारी थे। और आदर्श पर चलना जानते थे। स्वतंत्र राजनीतिक नेता होते हुए भी गांधी या तिलक की प्रशंसा करने से वे विमुख न हुए।

शास्त्रीजी गांधीजी से उम्र में केवल दस दिन बड़े थे। इनका जन्म सन् १८६९ में २४ सितम्बर को हुआ था। मद्रास में ही शिक्षा समाप्त कर वे एक स्कूल के प्रधानाध्यापक हो गये। पर, इनकी प्रतिभा की सुगंधि चतुर नायक गोखले तक पहुँची।

गोखले अपने स्थान पर एक प्रतिभाशाली तथा सुयोग्य उत्तराधिकारी के लिये व्याकुल थे। उन्होंने तुरत शास्त्री को अपना सहायक चुन लिया। गोखले के आग्रह से शास्त्री ने उनकी भारत सेवक समिति की सदस्यता स्वीकार कर ली और उनकी मृत्यु के बाद वही इस संस्था के सभापति तथा अध्यक्ष चुने गये। इस महत्वपूर्ण पद पर बैठते ही उन पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी। गोखले की गद्दी सम्हालना कोई हंसी खेल न था पर अब यह कहना कठिन होगा कि भारत सेवक समिति के गोखले अधिक योग्य नेता थे या शास्त्री। दोनों के राजनैतिक विचार समान थे। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रह कर भारत के भाग्य का निर्माण शास्त्री भी करना चाहते थे पर अन्तर केवल इतना ही था कि शास्त्री में अपने विरोधियों के प्रति सहिष्णुता स्यात् अधिक थी। गोखले का यश, उनकी वक्तृत्व शक्ति तथा भारत सरकार के बजट की धज्जियाँ उड़ाने में फैला था। लार्ड-कर्जन से लोहा लेकर वे भारतमात्र के प्राण बन गये थे। शास्त्री का वास्तविक राजनैतिक विकास रौलट ऐक्ट के घोर विरोध से आरम्भ होता है। व्याख्यान देने में इनकी योग्यता अपने राजनैतिक गुरु से अधिक थी। यह मनोरंजक बात है कि १८६९ में पैदा होने वाले दो महापुरुष, गांधी और शास्त्री गोखले को ही अपना राजनैतिक गुरु मानते हैं।

१९२१ में लन्दन के इम्पीरियल कान्फ्रेंस में वे भारत के प्रतिनिधि होकर गये थे। उस समय इनकी वक्तृता तथा विद्वत्ता तथा सरल, मृदु स्वभाव ने सभी प्रतिनिधियों को आकर्षित कर लिया। यहीं पर दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों को समानाधिकार देने के प्रश्न पर इनकी जनरल स्मट्स से छिड़ गयी थी और वास्तव में इसी समय से प्रवासी भारतीयों की सेवा का इनका असली कार्यक्रम शुरू होता है।

फिर क्या था ! एक बार एक काम हाथ में लेकर पीछे हटना तो शास्त्री ने सीखा ही न था। घोर परिश्रम की परवाह न कर, अपने दुर्बल स्वास्थ्य की चिन्ता न कर, वे पूरी शक्ति से इस कार्य में जुट गये। कभी केनिया में भारतीयों की कठिनाई सुलझाते होते, कभी पूर्वी अफ्रिका में कभी टांगानायिका में तो कभी फिजी में, कभी दक्षिण अफ्रिका में तो कभी लंका में। अफ्रिका में इनकी अद्भुत सेवा के प्रति आदर प्रकट करने के लिये वहाँ इनकी स्मृति में, भारतीय विद्यार्थियों के लिये शास्त्री कालेज की स्थापना हुई है और इसके लिये, उनके नाम पर, शीघ्र ही तीन लाख रुपये इकट्ठा हो गये थे।

शास्त्री अपने समय में ब्रिटिश साम्राज्य में सबसे सम्मानित तथा आदरित व्यक्तियों में से थे सम्राट् ने भी अपनी प्रिवी कौंसिल का सदस्य बनाकर इनको उच्चतम आदर प्रदान किया था। इसी पद के कारण इनको राइट ऑनरेबुल की उपाधि मिली। अत्यन्त मधुर अंग्रेजी में भाषण देने की प्रतिभा के कारण इनका बड़ा नाम फैला।

प्रवासी भारतीयों की निरन्तर सेवा करते हुए भी शास्त्री भारत की राजनीति से दूर न हुए। अवश्य वे यहाँ की दलबन्दी से दूर रहे। पर अपने मन्तव्य तथा विचार के अनुसार वे सदैव कार्य करते रहे। गांधीजी के सहयोग आन्दोलन या सत्याग्रह से उन्हें कभी सहानुभूति न रही पर जब कभी देश-सेवा का अवसर आया, वे कभी भी पीछे न रहे। १९३० में गोलमेज सम्मेलन की प्रारम्भिक बैठक में शरीक होकर वे बड़ी योग्यता के साथ भारत के शासन सुधार के लिये लड़े थे। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गांधी को उनसे बड़ा बल प्राप्त हुआ था।

१७ अप्रैल १९४६ की रात्रि में यह महापुरुष संसार से चल बसा।



विश्व वन्द्य गांधी

इस विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं है कि आज महात्मा गांधी संसार के सबसे बड़े महापुरुष हैं। उनके त्यागमय जीवन तथा निर्विकार मन को देख कर सभी एक स्वर से कह उठते हैं कि यह व्यक्ति विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व प्रेम की प्रतिमूर्ति है। ईसा का मानव प्रेम, कृष्ण की पवित्रता तथा मुहम्मद की ईश्वर भक्ति सबका इनमें समन्वय है। घोर से घोर अन्याय तथा अत्याचार को मन म बिना विकार लाये सहन करना, अपने शरीर को कष्ट देकर शत्रु को पीड़ा देने की बात भी न सोचना तथा दुश्मन को भी दोस्त समझना, यही गांधी सिद्धान्त है। गांधी ने बुद्ध की अहिंसा को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है और भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में या अशोक के विशाल साम्राज्य में भी इस अहिंसा सिद्धान्त के उतने मानने

वाले नहीं रहे होंगे जितने आज गांधी के कारण हैं। उन्होंने अपने जीवन को इतना अहिंसात्मक बना लिया है कि देश मात्र के पाप का प्रायश्चित आत्म-पीड़न तथा आत्म तपस्या द्वारा करते हैं। भारतवर्ष को "हरिजन" (अछूतों के प्रति) का प्यारा शब्द गांधी द्वारा ही मिला है। उनके प्रति सवर्ण हिन्दू समाज में उपेक्षा तथा उदासीनता की भावना देख कर और इङ्गलैण्ड में होने वाले गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर हिन्दू समाज के ही दो अङ्ग सवर्ण तथा अछूत समाज में भावी संघर्ष की सम्भावना देख कर गांधी जी ने अनशन कर दिया था और उनके अनशन से सारा भारतवर्ष काँप उठा था और सवर्ण हिन्दू समाज को माथा टेकना पड़ा और हरिजनों को राजनैतिक स्वत्व देना पड़ा। उस समय जो निर्णय हुआ था उसे पूना पैक्ट के नाम से पुकारते हैं।

किन्तु, इसके पहले भी, सन् १९२४ में गांधी जी २१ दिन का अनशन कर चुके हैं। यह निराहार व्रत हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये था। सन १९२० के असहयोग आन्दोलन की समाप्ति तथा खिलाफ़त आन्दोलन के अन्त होते ही देश भर में हिन्दू मुस्लिम दङ्गों की बाढ़ आ गई और ऐसा प्रतीत होता था कि भारत की यह दो महान जातियाँ लड़ कर नष्ट हो जावेंगी। गांधी जी ने अनशन व्रत कर इस पाप का प्रायश्चित अपने ऊपर ले लिया और उनके उस अनशन के फलस्वरूप दिल्ली में हिन्दू मुस्लिम एकता के जो मूलमन्त्र तैयार हुए थे, यदि देश उसका पालन करे तो सभी साम्प्रदायिक संकट टल सकते हैं। प्रत्यक्षतः इस अनशन का कोई फल पाठकों को भले ही न दीख पड़े पर आज हिन्दू मुस्लिम एकता पर जो ज़ोर दिया जा रहा है, वह गांधी जी के व्रत के समय से उत्पन्न भावना के ही कारण। इसके अतिरिक्त गांधी जी ने दो उपवास और किये

हैं। सन् १९३९ में, गुजरात के राजकोट की रियासत ने प्रजा को बहुत से अधिकार देने का वादा किया पर बाद में मुकर गई। गांधी जी को भी इस मामले में पड़ना पड़ा। रियासत अपनी जिद्द पर अड़ी थी। फलतः इन्होंने और कुछ न कर आमरण अनशन का संकल्प किया और उपवास करने लगे। इस व्रत ने संसार को विचलित कर दिया। वाइसराय महोदय को बीच में पड़ना पड़ा। मामला गांधी जी के ही पक्ष में तय हुआ। आगाखां के महल में ही गांधी जी ने फरवरी, ४३ में २१ दिन का उपवास किया था। उन्होंने भारत सरकार से यह अनुरोध किया था कि सन् १९४२ की घटनाओं के लिये कांग्रेस को जिम्मेदार ठहराते हुए जो अभियोग सरकार ने लगाये हैं, उनका खण्डन करने का स्वतन्त्र अधिकार गांधी जी को दिया जावे। सरकार ने यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी अतः डाक्टरों के मना करने पर भी गांधी जी ने उपवास किया और अपने आत्मबल से ही वे बच सके। सरकार से अनुरोध किया गया कि उन्हें छोड़ दिया जाय। पर वाइसराय ने ऐसा न किया। इस नीति के विरोध में वाइसराय की कौंसिल के दो भारतीय सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया।

उनके लिये उपवास हमारे प्राचीन धर्म के अनुसार आत्म-शुद्धि का एक उपाय है। चूंकि हरेक की आत्मा एक है अतएव एक ही तपस्या से सब पर प्रभाव पड़ता है। गांधी जी के उपवासों का अपना निजी महत्व है। यद्यपि इस महत्व को न समझ कर कुछ नासमझ साधारण कार्य के लिये जिद करके भी अनशन कर बैठते हैं पर, ऐसा व्रतोपवास मनोविकार रहित अधिकारी व्यक्ति का ही कार्य है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि गांधी का सिद्धान्त है कठोर अहिंसा व्रत का पालन। इस व्रत का प्रथम चरण है सत्य की

उपासना। मन वचन कर्म से सत्य का प्रतिपादन। सत्य का पुजारी व्यक्तित्व को सच्चाई में लिप्त कर देता है। उसके लिये सत्य ही जीवन है। ईश्वर और सत्य में कोई भेद नहीं रहता। गांधी जी, जिन्हें समूचा भारतवर्ष 'बापू' के प्यारे नाम से पुकारता है, अपने जीवन को ही सत्य की खोज मानते हैं। वे अपने जीवन को सत्य के साथ अनुभव तथा प्रयोग का रूप बतलाते हैं और वास्तव में सत्य की यह तलाश ही उनका सबसे बड़ा महत्व है। श्रीमद्भगवद्गीता उनके जीवन का आधार है। उनके आत्म चरित्र को पढ़िये तो पता चलेगा कि यह व्यक्ति सत्य के पीछे कैसा दीवाना बना घूमा करता था तथा घूमा करता है। अपने सम्पर्क में आने वाले हर एक व्यक्ति को इन्होंने सत्य में रंग डालना चाहा, यद्यपि इस विषय में इन्हें सबसे बड़ी सफलता अपनी धर्मपत्नी पर ही प्राप्त हुई। कस्तूरबा गांधी अपने समय में भारत की सर्वश्रेष्ठ आदर्श महिला थीं। भारतीय नारी-श्री की उज्ज्वलतम प्रतीक थीं। सन् १६४३ में उनकी मृत्यु से गांधी का वामाङ्ग ही नहीं कट गया, भारत की महिलाओं का गौरव मुकुट क्षितिज में विलीन हो गया।

सत्य के पुजारी गांधी ने जीवन की कृत्रिमता, आचार विचार के पाषंड तथा नयी सभ्यता के विरुद्ध झण्डा उठाया है। आज हम और आप एक अज्ञात सुख की खोज में पागल की तरह इस वैज्ञानिक सभ्यता के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। सुख तो मिल नहीं रहा है, एक अजीब, अनोखी, महान पीड़ा हृदय के भीतर बसी हुई हमको खाये जा रही है। जीवन की आवश्यकता का पारावार नहीं। व्यवहार में आडम्बर का ठिकाना नहीं। कपिल, कणाद के इस शान्तिपूर्ण देश के निवासी यह भूल गये हैं कि—

"धैर्य्यं यस्य पिता क्षमा च जननी भ्राता मनः संयमः"

ऐसी मानसिक घुड़दौड़ में कृषि-प्रधान भारत को अधिक पीड़ित होने से बचाने के लिये गांधी कल-कारखानों का धुँआ-धक्कड़ के बजाय ग्रामोद्योग, वस्त्र के लिये खद्दर तथा आत्म निर्भरता के लिये चर्खा का प्रचार कर रहे हैं। काम से विश्राम पाकर हमारे ग्राम की स्त्रियाँ आपस में लड़ती हैं या व्यर्थ का बकवास करती हैं। पुरुष परस्पर टीका टिप्पणी करते हैं। गांधी कहते हैं कि अवकाश के समय चर्खा चलाओ, समय का सदुपयोग होगा। धन भी मिलेगा, वस्त्र भी। देश के लिये ऐसा कौनसा उपयोगी काम है जिसे गांधी ने नहीं किया। अछूतों तथा दलित जातियों की सेवा के लिये "हरिजन संघ" का देश भर में निर्माण कर इन्होंने जो काम किया है, वह पचासों वर्षों के प्रयत्न से न होगा। गो वंश की रक्षा के लिये इन्हीं की प्रेरणा से स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज ने गो सेवासंघ की स्थापना की थी जो बड़ा अच्छा कार्य कर रही है। खद्दर की बिक्री तथा प्रचार के लिये अखिल भारतीय चर्खा संघ बड़ी संगठित तथा उपयुक्त संस्था है। गो हत्या रोकने के लिये व्य.कुल गांधी ने अपना यज्ञोपवीत तब तक के लिये उतार दिया है जब तक वे भारत से गो हत्या न बन्द करा लें। कस्तूरबा गांधी की स्मृति में जो कस्तूरबा कोष स्थापित हुआ है वह नारी जाति की हर प्रकार से सेवा करेगा। बाल-विवाह, बहु विवाह, विधवा विवाह न करना आदि के विरुद्ध गांधी ने सदैव प्रयत्न किया है और करते रहेंगे और सर्वोपरि भारत की स्वाधीनता तथा हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये इनसे बढ़ कर काम करने वाला देश में कोई नहीं है। हरेक महापुरुष के बहुत से विरोधी होते हैं। हरेक महान आत्मा के नित्य के कार्यों में अवगुण तथा दोष दीख पड़ता है। हम स्वयं गांधी जी के सभी सिद्धान्तों को अक्षरशः नहीं मानते।

उनके विरोधी उन्हें महात्मा न कह कर राजनीतिज्ञ कहते हैं। मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्ना को अपने विचारों से सहमत न करा सकने की उनकी अक्षमता को उनकी आत्म-शक्ति के अभाव का परिणाम बतलाते हैं, पर केवल टीका या टिप्पणी से महापुरुषों का चरित्र नहीं समझा जा सकता। आलोचना सरल वस्तु है पर उससे भी सरल है कटु आलोचना। गांधी प्राचीन भारत तथा नये हिन्दुस्तान के समन्वय हैं। आज पच्चीस वर्षों में उन्होंने सदियों से सोये हुए देश को जगा कर स्वतन्त्रता के मार्ग पर खड़ा कर दिया है। अब गांधी रहें या न रहें, भारत राजनैतिक तथा सामाजिक मृत्यु से बच गया। संसार में लेनिन, नेपोलियन, रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन ऐसे महापुरुष अथवा हिटलर और मुसोलिनी ऐसे भ्रमित पर महान नेताओं के भाग्य में एक साथ चालीस करोड़ नर-नारियों का हृदय प्राप्त करने का सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त हुआ। सबके सिद्धान्तों में कमी या बेशी महसूस हो सकती है पर प्रेम और अहिंसा, सत्य और तपस्या, सादगी और सदाचार के मूलमन्त्रों को कौन चुनौती दे सकता है। जब तक संसार में सत्य जीवित रहेगा, गांधी जीवित रहेंगे।

किसी महापुरुष के जीवन की घटनाओं को एक छोटे से निबन्ध में स्थान देना सम्भव नहीं है। प्रकृति के नियम तथा विधाता की क्रीड़ा उसे इतने घटना चक्रों से ले जाकर घुमाती हैं कि किसी भी एक बात को छोड़ जाने से क्रम बिगड़ जाता है और सब को लिखने से लेख पुस्तक बन जाता है। यही कठिनाई गांधी जी के सम्बन्ध में है। फिर भी हम संक्षेप में उनकी जीवनी लिख रहे हैं।

पश्चिम भारत में, पोरबंदर नामक एक छोटीसी रियासत थी। इसी रियासत में गांधी के दादा, पिता, बड़े भाई क्रमशः

प्रधान मंत्री रह चुके थे। इसी वैश्य तथा वैष्णव परिवार में, २ अक्टूबर, सन १८६६ को मोहनदास का जन्म हुआ। जब इनकी सात वर्ष की उम्र हुई तो पिता कठियावाड़ रियासत के राजकोट राज्य के प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। इस प्रकार गांधी जी का बचपन राजकोट में ही बीता। इनकी माता स्नेह तथा दया की मूर्ति थीं। उनकी सत्यनिष्ठा, साधना तथा ईश्वर भक्ति का गांधी जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अस्तु, राजकोट पहुँचते ही गांधी की सगाई पक्की हो गयी और १३ वर्ष की उम्र में ब्याह हो गया। यौवन की आँखें खुलते ही भोग विलास का आवेग सा आ गया और कुछ समय तक यही नशा चढ़ा रहा। पर, इस नशे के भीतर गांधी की महान आत्मा कराह रही थी, वे यह सोचा करते थे कि उनको ब्रह्मचर्य तथा संयम का जीवन बिताना चाहिये और देश की सेवा करनी चाहिये। १७ वर्ष की उम्र होते ही वे क़ानून (बैरिस्टरी) पढ़ने के लिये इंगलैंड भेजे गये। विलायत जाते समय माता ने शपथ ले लिया था कि वहाँ मांसाहार, पर-स्त्री सेवन तथा मदिरा का सेवन न करेंगे। इस प्रतिज्ञा ने गांधी की बड़ी रक्षा की। वे अपनी माता से झूठ बोलने को तैयार न थे। अतएव हरेक विकार से बचते गये। गांधी जी असल में डाक्टरी पढ़ना चाहते थे। पर उनके पिता ने आज्ञा न दी। पर, इस चिकित्सा प्रेम के कारण ही वे आगे चलकर प्राकृतिक चिकित्सा के उद्भट विद्वान निकले और दक्षिण अफ्रीका में अपनी इसी प्रणाली से प्लेग तक अच्छा किया।

अस्तु, जिस माता के प्रभाव से गांधी का इङ्गलैंड-प्रवास निष्कलंक बीता, वह उन्हें स्वदेश वापस आने पर न मिली। प्रिय पुत्र को इंगलैंड में ही छोड़कर वह चल बसी थीं। घर अब गांधी के लिये सूना हो गया था। चित्त उदास था। पेट के लिये

वकालत तो करनी ही थी। सबके सामने बोलने में शर्माने वाले इस युवक ने अपने पहले मुक़दमे में ही घोर अयोग्यता का परिचय दिया। बहस करने उठे तो जबान बन्द हो गयी। पैर काँपने लगे। कुछ न बोल सके और अदालत से माफ़ी माँगकर घर भाग आये। कुछ दिन राजकोट में अपने भाई के पास रहने के बाद इनको एक काम मिल गया। एक धनी भारतीय फ़र्म ने दक्षिण अफ्रिका में अपने फ़र्म के मामले में पैरवी करने के लिये इनको वहाँ भेज दिया। इस प्रकार ईश्वर ने भारत के भावी नेता को तैयारी करने के लिये रास्ता तैयार कर दिया।

इस समय प्रवासी भारतीयों की बड़ी दुर्दशा थी। सन् १८६० में, नेटाल के अंग्रेज उपनिवेशियों के खेतों पर काम करने के लिये भारत सरकार ने भारतीय कुली भेजे थे। इनमें ज़्यादातर संयुक्त प्रान्त तथा बिहार और मद्रास के हिन्दू थे। कुछ समय बाद यहाँ बम्बई और गुजरात के बहुत से मुसलमान व्यापारी जाकर बस गये थे। इस प्रकार दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों की काफ़ी अच्छी संख्या थी पर नागरिक अधिकार किसी को न था। सभी भारतीय कुली कहलाते थे। रंग भेद तथा भारतीयों की यह दुर्दशा गांधी जी से न देखी गयी। वे सन् १८९३ में नेटाल की राजधानी दरबन पहुँचते ही इस विषय में रुचि लेने लगे। फलतः वे शीघ्र ही वहाँ के भारतीयों के लिये आवश्यक भी हो गये। मुक़दमे का काम खत्म हो जाने पर भी इनको वहाँ आग्रह पूर्वक रोक लिया गया। और वे "कुलियों" के वकील हो गये।

बस, सन् १८९४ से ही गांधी जी का दक्षिण अफ्रिका का वह जीवन प्रारम्भ होता है जो तूफ़ानों से भरा हुआ था तथा जिसमें २० वर्ष की जवानी खपाकर उन्होंने भारतीयों के स्वत्वों

की रक्षा की थी। आज भी दक्षिण अफ्रिका में भारतीय विरोधी कानून बन रहे हैं पर उस समय परिस्थिति बहुत ही खराब थी। गांधी पीटे तक गये, पर वे विचलित न हुए। सन् १८६६ में जब दक्षिण अफ्रिका की बोअर सरकार तथा ब्रिटिश सरकार से युद्ध हुआ, गांधी जी ने अंग्रेजी सरकार का साथ दिया तथा "भारतीय-चिकित्सा-सहायक सेना" के नेता बनकर जान जोखिम उठाकर ब्रिटिश सरकार की सेवा की। पर, इस युद्ध के बाद भारतीयों को अधिकार वृद्धि के स्थान पर और भी संकटों का सामना करना पड़ा। गांधी जी दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के लिये इंगलैंड भी गये थे। उन्हें अफ्रिका छोड़ने के पूर्व ट्रांसवाल तथा जोहान्सबर्ग में काफी दिनों तक रहना पड़ा था। स्वास्थ्य के विचार से वे भारत वापस आकर बम्बई में बस जाना चाहते थे पर प्रवासी भारतीयों के लिये उनके हृदय में इतना स्थान था कि वे बीच धारा में उनकी नौका नहीं छोड़ना चाहते थे। एक पर एक समस्या आती ही जाती थी। सन् १६०२ में ट्रांसवाल की सरकार ने यह नियम बनाया कि एशिया प्रवासी सभी ट्रांसवाल प्रवासियों का वहाँ रहने का अधिकार रद्द कर दिया जाता है और जो लोग वहाँ बसने के इच्छुक हों, वे पुनः प्रार्थना पत्र भेजें और उस कागज़ पर अपनी सब उँगलियों की छाप लगावें। छाप लगाने का जो नियम कैदियों के लिये था, वही भारतीयों के लिये हो गया। इस अपमानजनक नियम से वहाँ के भारतीयों में आग फैल गयी। घोर आन्दोलन जारी हुआ। इसी नियम के विरुद्ध गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन चालू किया और पहली बार जेल भी हो आये। जो हो, यह नियम बना ही रहा। इसी सिलसिले में गांधी जी को सन् १६०६ में दुबारा इंगलैंड जाना पड़ा था। यह काला क़ानून जून, १६१४ में रद्द किया गया था।

अब गांधी जी के सामने एक और समस्या थी। ट्रांसवाल में भारतीय कुलियों को फी व्यक्ति पीछे ४५) रुपया सरकारी कर देना पड़ता था। १९१२ में जब महामना गोखले दक्षिण अफ्रिका गये थे, वहाँ की सरकार ने इस कर को माफ़ कर देने का वादा किया था पर बाद में वह मुकर गयी। फिर क्या था, गांधी ने दूसरा सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर दिया। अन्त में १९१४ में उनके आन्दोलन को सफलता मिली और दक्षिण अफ्रिका प्रवासी भारतीयों का बड़ा कल्याण हो गया।

इसी समय महायुद्ध छिड़ गया। गांधी जी भारत तथा ब्रिटेन की मैत्री के कट्टर समर्थक थे। वे इंगलैंड गये और स्वयं सेवक सेना में अपना नाम लिखा लिया। पर, स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण इनको भारत वापस आना पड़ा। १९१५ में गोखले की मृत्यु के जरा पहले ही, वे भारत पहुँच गये थे। पर भारत में इनके पहुँचने के पूर्व इनका यश पहुँच चुका था और भारतीय समस्याओं के प्रति इनके भावी रुख का अनुमान सन् १९१० में प्रकाशित "हिन्द स्वराज्य" नामक इनकी पुस्तक से लग सकता था। प्रवासी भारतीयों की समस्या भी इन्हें नहीं भूली थी और उसका आन्दोलन भारत से ही जारी रखा। सन् १९१७ से कुली प्रथा ही समाप्त हो गयी पर प्रवासी भारतीयों की समस्या समाप्त न हुई। गांधी जी के ही निर्देश से साधु सी० एफ० एन्ड्रूज (स्व०), पं० बनारसीदास चतुर्वेदी प्रभृति उद्भट कार्यकर्ताओं ने प्रवासी भारतीय आन्दोलन जारी रखा और इससे प्रवासी भारतीयों का बड़ा कल्याण हुआ।

भारत में गांधी का जीवन भारतीय राजनीति का इतिहास मात्र है। हमारे जीवन के हरेक अंग में वे इस प्रकार प्रवेश कर गये हैं कि भारतीय जीवन का कोई भी पहलू उनसे खाली नहीं है। सन् १९१८ में चम्पारन के मजदूरों के लिये सत्याग्रह

अन्दोलन तथा कैरा के अकाल पीड़ित किसानों के लगानबन्दी आन्दोलन से भारत में एक नयी धारा बह गयी। सत्य-आग्रह-अहिंसा के इस नये शस्त्र से देश परिचित हो गया। चम्पारन तथा कैरा की सफलता लोगों के सामने थी। इसी समय रौलट ऐक्ट बना जिसके विरोध में, गांधी के ही कथनानुसार, सारे भारत में हड़ताल मनायी गयी। इसके बाद ही गांधी मुहम्मदअली तथा शौकतअली के साथ खिलाफत आन्दोलन में शरीक हो गये (सन् (१९१९-२१)। इसी समय अमृतसर में जलियाँवाला बाग का भीषण हत्याकांड हुआ। इस घटना से अत्यन्त दुखी होकर गांधी जी ने अपना क़ैसर हिन्द मेडल "सरकार को वापस कर दिया और अपने पत्र "यंग इण्डिया" द्वारा सरकार की कटु आलोचना करने लगे। फिर तो असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया और १९२२ में गांधी जी को जेल यात्रा करनी पड़ी। ४ फरवरी, १९२४ को गांधी जी छोड़े गये। सन् १९२९ में लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव घोषित कर दिया और तदनुसार आन्दोलन किया जाने लगा। सन् १९३० में गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया। उस समय भारत को भावी शासन सुधार देने के लिये लंदन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन होने वाला था। तत्कालीन वाइसराय ने ५ मार्च, १९३१ को गांधी जी से समझौता कर लिया। इसे ही गांधी-इरविन पैक्ट कहते हैं। सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया। देश व्यापी नमक तथा जंगल क़ानून तोड़ने आदि का काम समाप्त हुआ। भारतीय कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी लंदन गये। वहाँ इनका बड़ा स्वागत हुआ और महात्मा ने सम्राट् से भी भेंट की। पर, सन् १९३२ में भारत आने पर यहां की राजनीतिक परिस्थिति ने नवीन आन्दोलन प्रारम्भ करने पर विवश किया।

जनवरी, १६३२ में पुनः जेल यात्रा हुई । ८ मई १६३३ को छोड़े गये ।

सन् १६३७ के शासन विधान के अनुसार नवीन चुनाव में ११ में से ६ प्रान्तों में कांग्रेस का शासन प्रारम्भ हुआ । भारतीय इतिहास के लिये यह महान घटना थी । पर सितम्बर, १६३६ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने और उसमें बिना भारतीय असेम्बलियों से पूछे, भारत को युद्ध में शामिल कर लिये जाने से कांग्रेस मंत्रियों ने त्यागपत्र दे दिया और प्रान्तों में गवर्नरों का निरंकुश शासन स्थापित हो गया । सत्याग्रह आन्दोलन पुनः छिड़ा । अक्टूबर १६४० में फिर हजारों नर नारी जेल गये । मार्च, सन् १६४२ में ब्रिटिश पार्लामेंट ने सर स्टाफर्ड क्रिप्स को समझौता करने के लिये भारत भेजा पर क्रिप्स प्रस्ताव की अपरिपूर्णता तथा मुसलिम लीग की साम्प्रदायिक नीति के कारण क्रिप्स योजना असफल रही । सन् १६४२ में, ८ अगस्त को देश व्यापी गिरफ्तारियाँ हुईं । इसका कारण था कांग्रेस का "भारत छोड़ो" प्रस्ताव । गांधी जी पुनः गिरफ्तार हो गये । ६ मई, १६४४ को सरकार को इन्हें छोड़ना ही पड़ा ।

इस समय तत्कालीन भारत के वाइसराय लार्ड वावेल ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल को यह समझा दिया कि भारत बहुत जाग गया है और केवल जेल में ठूँसने से ही स्वराज्य की आँधी नहीं रुक सकती । अतएव समझौते का उपाय करना चाहिये । जून, १६४५ में, वाइसराय ने शिमला में सर्व दल के नेताओं को बुलाया । गांधी जी समझौता करने को तैयार थे पर वाइसराय की शासन-परिषद् में मुसलिम लीग कांग्रेस के बराबर प्रतिनिधित्व चाहती थी; अतः समझौता न हो सका । कांग्रेस का दावा है और सत्य है कि वह देश के सभी समाज तथा धर्म का प्रतिनिधित्व करती है वह देश को आजाद करना

चाहती है। उसके सामने हिन्दू-मुसलिम सवाल है भी नहीं अतः केवल हिन्दू मुसलिम सवाल लेकर चलने वालों के साथ उसकी नीति कैसे मेल खा सकती है। भारत अखंड है, अविभाज्य है। गांधी जी इस बात को मनवाने के लिये सन् १९४४ में जिना साहब के दरवाजे तक भीख माँग आये पर असफल रहे।

सन् १९४५ का शिमला सम्मेलन असफल रहा। पर, वाइसराय ने केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के निर्वाचन की आज्ञा दे दी, गवर्नरों का निरंकुश शासन समाप्त हुआ। मार्च १९४६ में भारत के ११ में से ८ प्रान्तों में कांग्रेस का पुनः शासन हो गया। मुसलिम प्रान्त उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में भी कांग्रेस का शासन हुआ। केवल बंगाल तथा सिन्ध में लीग का मंत्रिमंडल बना। पर सिन्ध में राष्ट्रीय मुसलिम पक्ष प्रबल हो उठा है। केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा में भी कांग्रेस का बहुमत हो गया।

कांग्रेस की यह शक्ति तथा देशवासियों की स्वाधीनता का यह संकल्प देखकर ब्रिटेन की मजदूर सरकार भी समझ गयी कि अब अधिक समय तक गांधी जी का वेग नहीं रोका जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने भी ब्रिटिश सरकार को भारत से समझौता करने के लिये मजबूर कर रखा है। अतएव प्रधान मन्त्री ने भारत सचिव लार्ड पेथिक लारेन्स तथा दो अन्य मन्त्री, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और मि० ए० वी० एलेक्जेन्डर को भारतीयों से मिलकर भारतीयों के इच्छानुकूल शासन-विधान बनाने का प्रबन्ध करने के लिये भारत भेजा। १९ मार्च, ४६ को यह मंडल वायुयान से भारत आया। गांधी जी अप्रैल के पहले सप्ताह दिल्ली पहुँच गये और हरिजनों में स्वच्छता उत्पन्न करने और छूआछूत के प्रति क्रियात्मक अविश्वास

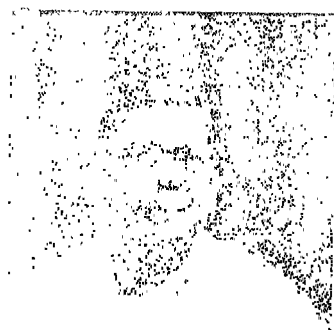
उदाहरण करने के लिये वे दिल्ली के धनाढ्यों की हवेली छोड़कर भंगियों के मुहल्ले में ठहरे।

तीन महीने तक ब्रिटिश मंत्रियों ने भारतीय नेताओं से बातचीत की। भारत का भावी शासन-विधान बनाने के लिये एक विधान निर्मात्री परिषद की योजना कर दी, इस परिषद के के कार्य को सुचारु करने के लिये तथा भारत के केन्द्रीय शासन को राष्ट्रीय बनाने के लिये मंडल ने मध्यकालीन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया पर वाइसराय ने इस सरकार में मुसलिम लीग तथा कांग्रेस के प्रतिनिधित्व के विषय में यह गुंजायश नहीं रखी कि कांग्रेस अपनी ओर से राष्ट्रीय मुसलिम भी भेज सके। इसके अतिरिक्त और भी कमजोरियाँ थीं। अतएव कांग्रेस ने मध्यकालीन सरकार में शामिल होना अस्वीकार कर दिया।

विधान निर्मात्री परिषद् के भी विषय में कांग्रेस समाज-वादी दल का कथन है कि उससे देश को वास्तविक स्वाधीनता न मिलेगी। कांग्रेस के भीतर ही कांग्रेस समाजवादी दल दिन प्रतिदिन शक्तिवान होता जा रहा है और भावी कांग्रेस का यही दल नेतृत्व करने वाला है, इस दल के मुख्य नेता आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री जयप्रकाशनारायण, श्री सम्पूर्णानन्द, श्रीमती कमला देवी, श्री अच्युत पटवर्द्धन, श्री अशोक मेहता, श्री मेहरअली आदि हैं। यह दल श्रमवादी है, पूँजीपतियों का विरोधी, जमींदारी प्रथा का शत्रु तथा देश के उद्योग-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण चाहता है, गांधी जी ने विधान निर्मात्री परिषद् को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। पर कांग्रेस समाजवादी दल इसका विरोध करता रहा। ६, तथा ७ जुलाई, १९४६ को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और श्री

जयप्रकाशनारायण ने अनुरोध किया कि मंत्रिमंडल की योजना अस्वीकार कर दी जावे पर गांधी जी उसे स्वीकार करने के पक्ष में एक घंटा बोले और उनके प्रभाव के कारण योजना को स्वीकार करने का प्रस्ताव, जिसे मौलाना अबुलकलाम आजाद ने पेश किया था, २०० पक्ष तथा ५० विपक्ष से पास हो गया। गांधी जी ने यह स्वीकार किया है कि "मैं अभी तक इस योजना के सम्बन्ध में स्वयं प्रकाश नहीं देख पाया हूं पर इसे अभी तो स्वीकार कर कार्यान्वित करना चाहिये तथा यह देखना चाहिये कि हम इससे अपना कितना कल्याण कर सकते हैं।"

गांधी जी चिरजीवी हों, भगवान् उनका राष्ट्र का नेतृत्व करने के लिये १२५ वर्ष की आयु दें। उनके कई महान् रचनात्मक कार्य—जैसे अखिल भारतीय चर्खा संघ, कस्तूरबा स्मारक कोष, हरिजन संघ इत्यादि ही उनको अमर रखने के लिये पर्याप्त हैं। यह हो सकता है कि अब के युग में गांधी जी की राजनीति से अधिक उग्रनीति आवश्यक हो पर उनका महत्व, उनका सत्य तथा अहिंसा सदैव भारत की रक्षा करेगा।



देशबन्धु चितरंजनदास

त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चितरंजनदास में बड़ी समानता थी। दोनों ही उच्चतम श्रेणी के वकील थे। इस पेशे से दोनों ने ही लाखों की सम्पत्ति कमायी थी। दोनों का जीवन बड़ा सुख और ऐश्वर्यमय था। पिता की सम्पत्ति का दोनों में से किसी को सहारा नहीं मिला था और अपने ही पैरों पर खड़े होकर, अपनी ही प्रतिभा से दोनों ने संसार में सब कुछ प्राप्त किया था। असहयोग आन्दोलन के बाद दोनों ने सुख-सन्यास ले लिया था और साधु-तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगे थे। राजनैतिक विचार भी बहुत ही मिलते-जुलते थे। दास तथा नेहरू दोनों कौंसिलों में प्रवेश कर अड़ंगा नीति से काम लेने के पक्षपाती थे और असहयोग आन्दोलन में इनमें से किसी को पूरा विश्वास न था। मोतीलालजी का

जन्म एक बड़े प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। देशबन्धु ने भी बंगाल के एक बड़े कुलीन ब्रह्मसमाजी परिवार में जन्म लिया था।

पर, इनमें अन्तर भी महान था। नेहरू का जादू भरा व्यक्तित्व तथा शहंशाही दिमाग़ चित्तरंजनदास नहीं पा सके थे। उन्हें तार्किक शक्ति का वह विशालभंडार नहीं मिला था जिसकी बदौलत नेहरू अपने विपक्षियों की धज्जियाँ उड़ा डालते थे। नेहरू धर्म के वातावरण से बहुत दूर थे, साहित्य तथा काव्य का केवल आनन्द लेना जानते थे, पत्रकार-जगत् में मालिक की तरह रुचि लेते थे पर चित्तरंजनदास बड़े धार्मिक, कवि पत्रकार तथा साहित्य प्रेमी थे। यद्यपि इन्होंने एक ब्रह्मसमाजी परिवार में जन्म लिया था तथा यूरोप की हवा खा आये थे पर विदेश यात्रा जहाँ अधिकांश को पश्चिमी रंग में रंग देती है चित्तरंजन पर उसका उल्टा असर पड़ा। भारत लौटकर, कुछ ही समय में उनका कोमल हृदय बंगाल के वैष्णव धर्म में रत हो गया और इनकी धार्मिकता समय पाकर बढ़ती ही गयी, घटी नहीं, सुकुमार हृदय चित्तरंजन में साहित्य तथा काव्य के प्रति बड़ी अनुरक्ति थी और इनकी कविता के विषय में यहाँ तक कहते हैं कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद वही बंगाल के सब से बड़े कवि हो गये हैं। सन् १८९७ में ही इनके दो काव्य छपे थे जिनमें "माला" ने अधिक ख्याति प्राप्ति की। इसके बाद इन्होंने बंगाल साहित्य को कई रत्न प्रदान किये जैसे "किशोर किशोरी", "अन्तर्यामी", "सागर संगीत"। "अन्तर्यामी", में भगवान विष्णु की उपासना में विभोर कवि आन्तरिक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। "सागर संगीत" इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह है तथा इनका सब से सुन्दर ग्रंथ है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी इन्होंने स्वयं तथा अरविंद घोष के साथ मिल कर किया

था। काव्य तथा पत्रकार कला से इनका प्रेम अपने पिता से प्राप्त हुआ था। चितरंजनदास के पिता श्री भुवनमोहनदास अच्छे कवि, संगीतज्ञ तथा पत्रकार थे। चित्तरंजन को पत्रकारी से बड़ी अनुरक्ति थी। सन् १६०६ में बंग-भंग आन्दोलन के पीड़ित युग में जन्म लेने वाले प्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र "बन्देमातरम्" के सम्पादकों में आप भी थे। कुछ वर्षों बाद स्वय अपने दो पत्र निकाले। एक तो भक्तिपूर्ण बंगला मासिक पत्रिका "नारायण" दूसरा अंग्रेज़ी का प्रसिद्ध राष्ट्रीय दैनिक "फ़ारवर्ड"।

चितरंजन का जन्म ५ नवम्बर, १८७० को कलकत्ता में श्रीमती निस्तारणी देवी के कोख से हुआ था। सन् १८६० में प्रेसिडेंसी कालेज, कलकत्ता से बी० ए० की परीक्षा पास कर वे विलायत चले गये। विचार था इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होना। परीक्षा में बैठे पर फ़ेल हो गये। अतएव बैरिस्टरी पास कर १८६२ में स्वदेश लौटे और कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत शुरू कर दी। पहले तो कई वर्ष तक बड़ी निराशा रही पर, जब वकालत चमकी तो ऐसी कि अपने समय में वे इस पेशे से सबसे अधिक रुपया पैदा करने वाले वकील थे। कहते हैं कि इनकी औसतन वार्षिक आमदनी साढ़े सात लाख रुपये थी। पर इतनी बड़ी आमदनी करने वाले को बड़ी विपत्तियों का भी सामना करना पड़ चुका था। बुढ़ापे में इनके पिता श्री भुवनमोहनदास ने काफी क़र्ज़ कर लिया था। इसके अलावा चितरंजन के साथ संयुक्तरूप से, वे अपने एक मित्र के क़र्ज़ों की ज़मानत कर चुके थे। परिस्थिति कुछ ऐसी आई कि वह मित्र रुपया न दे सका और १६०६ में बाप बेटे को दिवालिया बनना पड़ा। पर, समय पाकर चितरंजन की आमदनी काफ़ी हो गयी तो इन्होंने स्वयं अदालत में दरख्वास्त कर दिवालियापन हटवा लिया और ऋण की मीयाद ख़त्म

हो जाने पर भी पिता के कर्ज की पाई पाई चुका दी। उनकी इस ईमानदारी से बंगाल ही नहीं, देश भर में उनका नाम फैल गया।

भले काम का भला नतीजा होता है। नेकनीयती हमेशा अच्छी चीज है। चितरंजन के अभ्युदय का समय आ गया था इसीलिये उनके विचार भी उन्नत होते जा रहे थे। १६०८ में "वन्देमातरम्" पर मुक़द्दमा चला। इसी साल पुलिस ने कलकत्ता के उपनगर मानिकतल्ला में बम बनाने का कारखाना बरामद किया। ३६ बँगाली युवक गिरफ्तार किये गये और उन पर सम्राट् के विरुद्ध बग़ावत करने का अभियोग लगाया गया। इन बन्दियों में अरविंद घोष भी थे। ऐसे मामले में हाथ डालने की भी जल्दी किसी वकील की हिम्मत न होती। पर, चितरंजन ने मुक़द्दमे की पैरवी का भार अपने ऊपर लिया। यह मामला इतिहास में काफी प्रसिद्ध हो गया है। इसमें लगभग ५०० चीजें, जो बम से सम्बन्ध रखती थी, अदालत में पेश की गयीं। ४००० दस्तावेज तथा २०० गवाह गुजरे। "वन्देमातरम्" तथा इस मुक़द्दमे में दास की प्रतिभा फूट पड़ी। लोग इस युवक वकील की जिरह करने की लियाक़त व ताक़त तथा फौजदारी क़ानून की अनोखी जानकारी देख कर दंग रह गये। अरविंद को वे निरपराध प्रमाणित कर पुलिस के दाँतों में से छुड़ा लाये। फिर क्या था, समूचे बंगाल में उनका नाम चमक उठा। भारतवर्ष में उनका ढिंढोरा पिट गया। इस सफलता से धन की नहीं, यश की प्राप्ति हुई। फिर तो दीवानी तथा फौजदारी के मुक़द्दमों की ढेर लगने लगी। डुमराँव राज्य का उत्तराधिकार वाला मुक़द्दमा भी इन्हीं के हाथों से हुआ।

किन्तु, राजनैतिक क्षेत्र में इन्होंने कई वर्ष बाद पैर बढ़ाया। यद्यपि १६०६ में ही वे कॉंग्रेस के प्रतिनिधि रह चुके थे पर

इस संस्था से इनका वास्तव में संबंध १९१७ से स्थापित हुआ। सन् १९१५ में बंग साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के बाद वे बंगाल प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के १९१७ के अधिवेशन के लिये सभापति चुने गये थे। यह सम्मेलन कांग्रेस के ही अन्तर्गत था। अतएव कांग्रेस से इनकी घनिष्ठता बढ़ी। १९१६ में कांग्रेस में गर्म और नर्म दल का झगड़ा उठ खड़ा हुआ। चित्तरंजन गर्म दल के थे। सन् १९१८ के कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में इन्हीं के प्रयत्न से प्रान्तीय स्व-शासन की माँग का प्रस्ताव पास हुआ। श्रीमती बेसेंट ऐसी प्रतिभाशालिनी महिला उस समय इनके विरोधी दल की नेता थीं। इसके बाद ही भारत रक्षा क़ानून या रौलट ऐक्ट पास हुआ और वाइसराय ने उसकी स्वीकृति दे दी। फिर क्या था, उसके विरोध के आन्दोलन में चित्तरंजन अगुआ थे। अमृतसर कांड की जाँच के लिये जो समिति बनायी गयी थी, उसके आप भी सदस्य थे और इसी समिति के काम के सिलसिले में इनकी गांधी जी से मुलाक़ात हुई।

असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव जब गांधी जी ने कांग्रेस में रखा तो दास ने उसका विरोध किया। अन्त में गांधी जी के समझाने पर इन्होंने नागपुर अधिवेशन में उसे स्वीकार कर लिया। चित्तरंजन का इस आन्दोलन को स्वीकार करना गांधी के लिये बंगाल मात्र को अपना लेना था। गांधी जी ने स्वराज्य आन्दोलन के लिए एक करोड़ स्वयंसेवक तथा एक करोड़ रुपये की माँग की। चित्तरंजन इस काम में पूरी तरह से जुट गये। उन्होंने अपनी लाखों की कमाई वाली वकालत पर लात मार दी और देश के लिये फ़क़ीर हो गये। यही नहीं, अपनी समूची सम्पत्ति औरतों के लिये अस्पताल खोलने के लिये दान कर दी।

इस महान त्याग से ही भारत ने एक स्वर से इनको 'देश बन्धु' की उपाधि से विभूषित किया।

असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में देशबन्धु सकुटुम्ब गिरफ्तार कर लिये गये और इन्हें छः महीने की सजा हुई। जुलाई, १६२२ में जेल से छूट कर आते ही आपने कौंसिल प्रवेश आन्दोलन शुरू कर दिया। इसी वर्ष गया कांग्रेस के अधिवेशन में आप सभापति बने थे। गया में इनका बड़ा शानदार स्वागत हुआ था किन्तु इस अधिवेशन में इन्हें कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास कराने में सफलता न मिली। स्वराज्य पार्टी की रचना गया कांग्रेस अधिवेशन के समय में ही हुई। १६२३ में स्वराज्य पार्टी को कौंसिल प्रवेश की आज्ञा मिल गयी। बहुत कम समय होने पर भी देशबन्धु ने जमकर चुनाव की लड़ाई लड़ी और बंगाल कौंसिल में अन्य दल वालों को तुलना में इनकी संख्या सबसे अधिक पहुँची। सरकार ने इनसे मंत्रिमंडल बनाने को कहा पर इन्होंने अस्वीकार कर दिया। जब बजट पास करने का समय आया तो इन्होंने मंत्रियों का वेतन ही पास न होने दिया। मध्यप्रान्त की तरह बंगाल में भी शासन प्रणाली रुक गयी। वैधानिक संकट आ गया। १६२४ में नये म्युनिसिपल ऐक्ट के अनुसार जब कलकत्ता कार्पोरेशन का चुनाव हुआ तो स्वराज्य पार्टी का अत्यधिक बहुमत हो गया। देशबन्धु उसके प्रथम मेयर चुने गये। १६२५ में वे दुबारा इस पद पर चुने गये। आपने अपने शासन-काल में ही श्री सुभाषचन्द्र बोस को एक्जीक्यूटिव अफसर नियुक्त किया था।

देशबन्धु की चतुर्मुखी राजनैतिक क्रिया-शीलता का यहाँ पर वर्णन करना कठिन है। प्रान्त तथा देश के हरेक सत्कार्य में उनका हाथ था। शासन सुधार योजना पर विचार करने वाले कमीशन के सामने गवाही देने से लेकर तारकेश्वर के

मठाधीश के विरुद्ध आन्दोलन करने के काम में भी ये आगे रहते । इनके दो लेफ्टेनेंट थे—श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा श्री जे० एम० सेन गुप्त । दोनों ही बड़े प्रतिभाशाली तथा देशभक्त कार्यकर्त्ता थे । देशबन्धु को इनसे बड़ी सहायता मिलती थी । दुर्भाग्यवश, देशबन्धु के मरते ही इन दो महारथियों में झगड़ा हो गया । जिसका परिणाम बंगाल तथा कांग्रेस मात्र के लिये बुरा हुआ । अब न तो गुरू ही इस दुनियाँ में है और न उनके दोनों प्रमुख चेले । सुभाष तो द्वितीय महायुद्ध के समय भागकर मित्र राष्ट्रों के विरोधियों से मिल गये थे और जापान सरकार से मिल कर इन्होंने स्वतंन्त्र भारतीय सरकार तथा सेना दोनों संगठित की थी । जापान के पराभव के साथ उनका वह सब स्वप्न भंग हो गया और वे स्वयं भी अगस्त १९४५ में हवाई जहाज़ के गिरने से चोट खाकर मर गये । पर, अभी भी लोगों को उनकी मृत्यु में सन्देह है । भगवान करे, वे जीवित हों ।

बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन की वृद्धि तथा सन् १९२४ में सैकड़ों की गिरफ़्तारी की धूम मच गई । उस समय बंगाल तथा भारत सरकार का यह ख्याल था कि सी० आर० दास क्रांतिकारियों के समर्थक हैं पर देशबन्धु ने बार बार कहा था कि वे हिंसा तथा हिंसात्मक आन्दोलन के कट्टर विरोधी हैं ।

अपने राजनैतिक यश तथा पद की उच्चतम शिखा पर बैठे हुए ही इस देशबन्धु ने थोड़े दिनों की बीमारी में ही, केवल ५५ वर्ष की उम्र में, १६ जून, १९२५ को संसार से प्रस्थान कर दिया । मृत्यु दार्जिलिंग में हुई थी और जब शव कलकत्ते लाया गया तथा अर्थी का जलूस निकला तो कम से कम तीन लाख आदमी शामिल थे । इस दो मील लम्बे जलूस में सबसे आगे थे महात्मा गांधी ।

डा० सर तेजबहादुर सप्रू

श्री श्रीनिवास शास्त्री के अतिरिक्त भारत में ब्रिटिश सम्राट् के एक और प्रिवी कौंसिलर हैं। वे हैं डा० सर तेजबहादुर सप्रू. संयुक्तप्रान्त में सर्वप्रिय व्यक्ति पं० जवाहरलाल नेहरू हैं पर सबसे अधिक आदरित व्यक्ति सर तेज ही हैं। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि इस समय यदि कोई व्यक्ति ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय जनता का समान रूप से विश्वासपात्र है तो वह सर तेज ही हैं। आज उन्हें यह पद ध्रुव, अविचल रूप से, अपने विचार के अनुसार राष्ट्र सेवा करने से ही प्राप्त हुआ है।

गांधी युग में किसी नर्मविचार के व्यक्ति का, उदार दल अर्थात् लिबरल पार्टी के किसी नेता का इतना उच्च पद पाना एक इतनी बड़ी बात है जिसे सब लोग भली प्रकार समझ भी न सकेंगे क्योंकि आज हम हरेक का महत्व अपनी प्रवृत्ति के तराजू पर ही तौल कर आंकते हैं। पर वास्तव में यह एक बड़ा

भारी दोष है। भारतीय सभ्यता गुरुजनों का आदर करना सिखलाती है। उनके विचारों को तौल कर तथा अपने से भिन्न मार्ग पर देखकर अनादर करना नहीं बतलाती। कांग्रेस आन्दोलन के कारण थोड़ी सी असहिष्णुता हम में अवश्य आ गई है और हम अपने महापुरुषों की मर्यादा स्वयं ही घटाने लग गये हैं। यही बात सर तेज के साथ भी लागू होती है। कांग्रेस से विचार न मिलने के कारण उनको बड़ी गालियाँ सुननी पड़ी हैं। उनको बड़ी कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है तथा जनता का कोप भाजन भी बनना पड़ा है। पर, वे अपने निर्दिष्ट मार्ग पर अविचल चलते ही रहे। जब कभी उनको अवसर मिला, उन्होंने सदैव भारत तथा ब्रिटिश सरकार और जनता में मैत्री और सद्भाव पैदा करने की कोशिश की। राजनैतिक गुत्थी सुलझाने का प्रयास किया। अपनी उच्चतम क़ानूनी योग्तता के कारण वैधानिक विषयों में उनकी बड़ी गति है। इसी गति के बल पर वे बराबर भारतीय वैधानिक संकट को दूर करने की चेष्टा करते रहे। किन्तु, यह कहना अनुचित न होगा कि किसी न किसी पक्ष की नासमझी के कारण उनको सफलता कम ही मिली। कभी सरकार ने न सुना, कभी कांग्रेस ने, कभी मुसलिम लीग ने। प्रथम तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में अनवरत परिश्रम करने के बाद और लगातार १६२६-१६३४ के भीतर इङ्गलैंड और भारत का दौरा कर लन्दन दिल्ली एक कर देने के बाद भी उन्हें १६३५ का दोषपूर्ण भारतीय शासन विधान देखकर दुखी हो जाना स्वाभाविक है। हरिजनों के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के अनशन के समय काफी भाग-दौड़ कर जब पूना पैक्ट बना उसके बाद भी अम्बेदकर पार्टी को हिन्दुओं तथा हरिजनों में मतभेद कराते देखकर यदि वे पीड़ित हुए हों तो क्या आश्चर्य है। गांधीजी ने राजकोट के

मामले में अनशन किया। सप्रू को वाइसराय का द्वार तक खटखटाना पड़ा। १९३९ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया तथा वैधानिक संकट उपस्थित हो गया। सप्रू बिचारे समझौता कराने का विफल प्रयत्न करके हार गये। सन् १९४२ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स की यात्रा के समय राजनैतिक खिंच दूर करने का प्रबल प्रयास करने वालों में सप्रू अग्रतम थे। महात्मा गांधी जिन्ना के दरवाजे पर बारबार जाकर भी जब १९४४ में हिन्दू मुसलिम समस्या को न सुलझा सके तथा पाकिस्तान की समस्या न हल कर सके तो सप्रू ने यह कार्य अपने ऊपर लिया और आठ महीने परिश्रम कर सप्रू-कमेटी ने जो सुन्दर हल निकाला है, उसे लोग द्वारा ठुकराये जाते देखकर उनका जी दुखी हो जावे तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गोखले ने अपने जीवन में एक बड़ी भारी राजनैतिक भूल की थी कि लोगों के कहने पर बम्बई के प्लेग के जमाने में प्रान्तीय सरकार पर कई निराधार आक्षेप किये थे। उन्होंने उसके लिये निस्संकोच होकर प्रान्तीय सरकार से क्षमा याचना कर ली। गांधीजी ने प्रथम असहयोग आन्दोलन के समय, चौरीचौरा की हिंसात्मक घटना के बाद, अपनी भूल स्वीकार कर जनता से माफी माँगी थी पर सर तेज ने जीवन भर हरेक विरोधी पक्ष से एक दूसरे की ओर से क्षमा याचना कर राजनैतिक एकता की भीख माँगी, पर किसी ने न दी। हमें तो सर तेज के साथ बड़ी सहानुभूति होती है। वे यदि राजनीति से एक दम मुँह मोड़कर केवल अपने वकालत के पेशे की ओर ध्यान देते तो बहुत रुपया पैदा करते। इस समय भारत में उनकी टक्कर के वकील विरले ही मिलेंगे। सर नीलरतन सरकार की मृत्यु के बाद तेज ऐसा पंडित वकील रह ही नहीं गया है। पर, राजनीति उनका अधिक समय भी लेती है, धन भी, यश भी। और देती है

केवल निराशा। शायद इस उथल पुथल के युग में सर तेज ऐसे शान्ति सेवी की आवश्यकता ही नहीं है।

इनका जन्म ६ दिसम्बर, सन् १८७५ को एक कुलीन काश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका बाल काल तथा विद्यार्थी जीवन आगरा में ही बीता। क़ानून की उच्चतम डिग्री (एल-एल० डी०) के अतिरिक्त इन्होंने एम० ए० भी पास किया है। १८९६ से वकालत शुरू की और प्रयाग में ही बस गये। इसी वर्ष वे इलाहाबाद हाईकोर्ट के एडवोकेट होगये। इनकी योग्यता के कारण शीघ्र ही इस हाईकोर्ट के प्रथम श्रेणी के वकीलों में इनकी गणना होने लगी और इस पेशे से इन्होंने यश और धन दोनों ही कमाया।

किन्तु, देश सेवा के प्रेम ने इन्हें राजनीति की ओर भी खींच लिया था। सन् १९०७ से १९१८ तक वे बराबर कांग्रेस की सेवा करते रहे और उस समय उनकी गणना उग्र विचार वालों में होती थी। महात्मा गांधी का असहयोग का प्रस्ताव पास होते ही वे कांग्रेस से पृथक् हो गये तथा फिर कभी उसकी गोद में न बैठे। पर कांग्रेस से पृथक् होने पर भी वे बराबर उसके शुभचिन्तक बने रहे और भारत के हितों की रक्षा के लिये कांग्रेस प्रयत्नों की सफलता चाहते रहे।

सन् १९१३ से १९१६ तक वे हमारे प्रान्त की पुरानी व्यवस्थापक सभा के सदस्य रहे तथा १९१६ से १९२० तक इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य थे। उनकी इस सदस्यता के कार्यों की बड़ी प्रशंसा है। भारतीय हित के प्रश्नों पर वे कभी चुप रहते ही न थे और सदैव बड़ी निर्भीकता के साथ अपना विचार प्रकट करते थे। इन्हीं दिनों मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये घोर परिश्रम कर रहे थे। उन्हें सर तेज से बड़ी सहायता मिली।

विगत प्रथम महायुद्ध के उपरान्त भारतीय शासन विधा में परिवर्त्तन करने के लिये लार्ड साउथबोरो की अध्यक्षता जो कमीशन बिठाया गया था, उसके सदस्य सर तेज भी थे विधान सम्बन्धी एक दूसरी कमेटी, जिसे उसके अध्यक्ष नाम पर सेलबोर्न कमेटी कहते हैं, के सम्मुख गवाही देने लिये भारतीय लिबरल फेडरेशन की ओर से, सन् १९१९ सर तेज को लंदन जाना पड़ा था। सन् १९२३ में वे अखिल भारतीय लिबरल फ़ेडरेशन के पूना अधिवेशन के सभापति तथा इसी वर्ष लंदन में इम्पीरियल कांफ्रेंस में भारतीय प्रतिनिधि होकर गये थे। इस सम्मेलन में ही उन्होंने अपना यह प्रसिद्ध वाक्य कहा था कि "हम सभी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं और बराबरी का दावा करते हैं। हमको सम्राट् के भोजनगृह से निकाल कर उनके अस्तबल में नहीं भेजा जा सकता।"

सन् १९२१-२२ में आप लार्ड रीडिंग के जमाने में लॉ मेम्बर अर्थात् क़ानून सदस्य थे। उनके इस पद के स्वीकार करने के सम्बन्ध में जनता को बड़ी शिकायत है। पर, इस एक बात से सर तेज का राजनैतिक महत्व कम नहीं होता। १९२६ से १९३६ तक, वकालत स्थगित करके बराबर भारत के लिये नवीन शासन-विधान की रचना के कार्य में व्यस्त थे। पं० मोतीलालजी की प्रसिद्ध "नेहरू रिपोर्ट" में सर तेज का काफ़ी हाथ था। नेहरू रिपोर्ट ने भारत के लिये आदर्श शासन विधान का मसविदा तय्यार किया था। इस मसविदे का अच्छा होना लाज़िमी था। इसमें मोतीलालजी ऐसे प्रकाण्ड क़ानून पंडित तथा सप्रू ऐसे विधान पारंगत का दिमाग़ लगा था।

तेज का कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत है। सम्पादक तक का काम वे कर चुके हैं। क़ानूनी दुनियाँ के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण "लॉ

जर्नल" के वे १६०४ से १६०७ तक सम्पादक रहे। प्रयाग के "लीडर" अखबार के प्रकाशन में इनका भी बहुत बड़ा हाथ था।

प्रवासी भारतीयों की सेवा के प्रति इनकी रुचि साधु सी० एफ़ एन्ड्रयूज के सम्पर्क से उत्पन्न हुई पर यह रुचि मस्तिष्क में ही न रह कर कार्यरूप में परिणित हुई। सर तेज ने कुली प्रथा रोकने लिये बड़ा प्रयत्न किया था। जिस किसी देश में भारतीयों के साथ अन्याय होता था, उसी का प्रश्न लेकर आप आन्दोलन करते थे।

उनकी सेवायें अनन्त है। भारतीय राजनीति में उनको लिबरल भले ही कहा जावे पर आज उनसे अधिक कट्टर देश भक्त तथा सच्चा, सीधा, ईमानदार, मिलनसार, स्नेही, मित्र, सबकी भलाई चाहने वाला महापुरुष स्यात् ही मिले। वे हमारे देश की एक विभूति हैं और हमको उन पर गौरव होना चाहिये।

मौलाना मुहम्मद अली

भारत में हमारे मुसलिम भाइयों में भी बड़े दिग्गज लोग पैदा हुए हैं। उन्होंने देश तथा समाज का बड़ा कल्याण किया है। इन महापुरुषों में सर फजलीहुसेन, डा० अंसारी, सर शाह मुहम्मद सुलेमान आदि उल्लेखनीय हैं। पर, भारत के किसी भी मुसलमान को हिन्दुओं और मुसलमानों के समान प्रेम को प्राप्त करने का ऐसा सौभाग्य प्राप्त न हुआ जैसा मौलाना मुहम्मद्-अली को। मौलाना कट्टर राष्ट्रीय तथा देशभक्त थे। यह अवश्य है कि अपने जीवन के सन्ध्याकाल में वे साम्प्रदायिकता की ओर झुक पड़े थे, पर उनकी प्रेरक देश-भक्ति कभी भी कम न हुई। सन् १६१६ से इनका गांधी जी का घनिष्ट सम्पर्क होगया था। इसी समय मौलाना ने खिलाफत आन्दोलन चालू किया था। इस आन्दोलन का लक्ष्य तुर्किस्तान की स्वतन्त्रता तथा मुसलमानों के सर्वमान्य खलीफा को उनका पद दिलाना था। गांधी जी ने इस आन्दोलन में अपना पूरा समर्थन तथा सहयोग देना स्वीकार कर लिया। फलतः असहयोग और

खिलाफत आन्दोलन साथ ही साथ चले। इस समय जितना दृढ़ हिन्दू-मुसलिम ऐक्य था, वैसा कभी नहीं देखा गया। मौलाना मुहम्मदअली और उनके बड़े भाई, भारी भरकम शरीर वाले मौलाना शौकतअली सदैव गांधी जी के साथ रहते थे। मौलाना की वृद्ध माता भी पर्दा छोड़कर मैदान में उतर आई थीं और जनता को उचित मार्ग पर चलने की सलाह देती रहीं। हमने मौलाना मुहम्मदअली को उस समय देखा था जब इनकी माता प्यार से उनको एक चपत लगा रही थीं।

तुर्किस्तान में मुस्तफा कमालपाशा के उदय के साथ ही, देश की स्वाधीनता की रक्षा तो हो गई पर, कमाल ने स्वयं ही अपने देश को प्रजातन्त्र घोषित कर दिया और उसके खलीफा का पद हटा दिया। अतएव खिलाफत आन्दोलन समाप्त हो गया। उसकी समाप्ति के साथ ही हिन्दू-मुसलिम ऐक्य भी ढीला पड़ गया और देश में कई भयंकर बलवे हुए। मौलाना मुहम्मदअली ने उस समय हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की स्थापना के लिये विशद् प्रयत्न किया था। उनके प्रयत्न के कारण ही कटुता ज्यादा न बढ़ सकी। पर धीरे धीरे मौलाना कांग्रेस से हटते गये और स्वयं साम्प्रदायिकता के चक्कर में पड़ गये। सन् १९२३ में कोकनाडा में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में मौलाना ही अध्यक्ष थे और इस पद से दिया गया उनका भाषण हरेक एकता प्रेमी को पढ़ना चाहिये। मौलाना ने स्पष्ट कह दिया था कि भारत का भाग्य तब तक न सुधरेगा जब तक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने को एक ही देश की संतान, एक ही मिट्टी में पनपने और मिलने वाले सगे भाई समझकर काम न करेंगे। पर अपनी अध्यक्षता के इस वर्ष के कुछ ही समय बाद मौलाना कांग्रेस से दूर होते गये और प्रथम गोलमेज सम्मेलन में, लन्दन में उन्होंने कांग्रेस की मांग का वैसा समर्थन नहीं

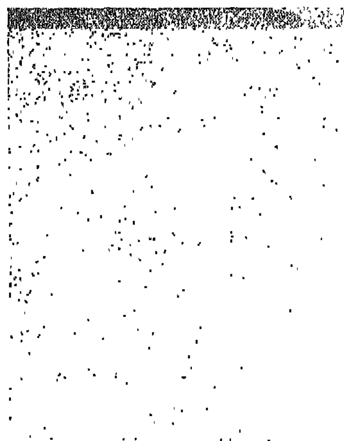
किया जैसा उन्हें करना चाहिये था। फिर भी, मि० जिन्ना की भाँति वे उग्र साम्प्रदायिक नहीं थे। उन्होंने भारतीय हित का भी दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया था।

मौलाना तथा उनके भाई शौक़तअली को, जिन्हें हम अली-बन्धु कहते हैं, काफी कष्ट झेलना पड़ा था। अच्छी नौकरी, घर-द्वार तक से हाथ धोना पड़ा था। ये रामपुर रियासत की प्रजा थे। और नवाब साहब के कृपा पात्र भी थे पर अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण उनकी कृपा से उन्हें वंचित होना पड़ा था।

मुहम्मदअली का जन्म सन् १८७८ में हुआ था और शिक्षा अलीगढ़ मुसलिम कालेज में ही हुई। बी० ए० पास करके वे विलायत चले गये और वहीं ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा पास की। स्वदेश वापस आकर वे रामपुर रियासत में शिक्षा विभाग में प्रधान अफ़सर नियुक्त हुए। सन् १९०२–३ तक रामपुर रियासत की सेवा करने के बाद मौलाना को गायकवाड़, बड़ोदा में अच्छी जगह मिल गयी और सन् १९१० तक वहाँ नौकरी करते रहे। इनके कार्यों से रियासत के बड़े से बड़े अफ़सर भी काफी खुश थे और ईमानदारी से काम करने के कारण इनका काम होता भी बहुत अच्छा था। जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा और तुर्किस्तान जर्मनी के पक्ष में मिल गया तो भारत सरकार ने १९१५ में इनको तथा शौक़तअली को नजर-बन्द कर दिया और चार वर्ष तक इन्हें जेल में रहना पड़ा। जेल से छूटते ही वे कांग्रेस में शामिल हो गये। सन् १९२० में खिलाफ़तियों का एक डेपूटेशन लन्दन गया। मौलाना मुहम्मद-अली उसके अध्यक्ष थे। सन् १९२१ में उनको फिर दो वर्ष के लिये जेल जाना पड़ा था।

१९१५ में जेल जाने के पहले ही मौलाना काफी राजनैतिक कार्य कर चुके थे। १९०६ में मुसलिम लीग की स्थापना में इनका बहुत बड़ा हाथ था। कई वर्षों तक वे "हमदर्द" नामक विख्यात उदू पत्र का सम्पादन कर चुके थे। १९१३ में 'खुदाये काबा नामक धार्मिक संस्था की स्थापना की और खिलाफत आन्दोलन के समय, स्कूल कालेजों के बहिष्कार के दिनों में, अलीगढ़ राष्ट्रीय मुसलिम कालेज भी मौलाना का ही स्थापित किया हुआ है। अब यह संस्था अलीगढ़ से हटकर दिल्ली चली गयी है। इसी का नाम है "जामिया मिलिया" ख्वाजा अब्दुल-मजीद इसके कर्णधार हैं। महात्मा जी की बुनियादी तालीम की योजना में ख्वाजा साहब ने बड़ा काम किया है।

मौलाना का तबियत सन् १९२८ से ही खराब रहने लगी थी। फिर भी १९३० में, लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में शरीक होने के लिये आपने इङ्गलैंड की यात्रा की। वहाँ इनकी बीमारी काफी बढ़ गई और ४ जनवरी, १९३१ को साढ़े चार बजे प्रातःकाल इनका देन्हात हो गया। मौलाना की मृत्यु से सबसे अधिक शोक गांधी जी को हुआ। वास्तव में वे महापुरुष थे और भारत के लिये उन्होंने बड़ा काम किया था।



'क़ायदे आज़म' मुहम्मदअली जिन्ना

सन् १८५७ के गदर के बाद भारत के मुसलमान बहुत पस्त हो गये थे और राजनैतिक आन्दोलन से कोसों दूर भागते थे। इसके अतिरिक्त उनके नेता गण भी उनको यही सिखला रहे थे कि राजनीति से दूर रहो। सर सैयद अहमदखां ने तो मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रहने की विचित्र सलाह भी दे दी थी।

इसलिये मुसलिम समाज में जागृति धीरे धीरे हुई। जागृत मुसलमान कांग्रेस में ही शामिल हो जाते थे। पर आम तौर पर मुसलमानों को भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग दिलाने के लिये कतिपय जिम्मेदार मुसलमानों ने मुसलिम लीग की स्थापना की। मौलाना मुहम्मदअली आदि के प्रयत्न से सन् १६०६ में लीग का प्रथम अधिवेशन नवाब विकारुल मुल्क की अध्यक्षता में हुआ। तभी से यह संस्था धीरे धीरे पनपती

गयी और आज भारतीय मुसलमानों का यह सबसे बड़ा राजनैतिक सगठन है। सन् १६४१ तक लीग का उद्देश्य था भारत को स्वधीनता दिलाना। पर, सन् १६४१ के अप्रैल में इसके मद्रास अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुआ उसने लीग का दृष्टिकोण ही एकदम बदल दिया है। उस प्रस्ताव के द्वारा 'ऐसे पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की जानी चाहिये जो भौगोलिक रूप से पृथक कर दिये गये हों तथा जिनमें इस प्रकार सीमा का पुन: विभाजन हो जावे कि मुसलिम बहुमत वाले भाग पश्चिमीय तथा उत्तर पूर्वीय भारत में एक साथ मिल जावें और शेष भारत में पृथक व स्वतन्त्र हो जावें। इन स्थानों में अल्पमत वालों के स्वत्वों की रक्षा की जावे। जिन प्रान्तों में मुसलिम अल्पमत हों, वहाँ उनके अधिकारों की विधान द्वारा रक्षा हो। इसी को पाकिस्तान कहते हैं।

सारांश में यही पाकिस्तान की योजना है जिसको व्यवहार रूप में किस प्रकार काम में लाया जा सकता है, इसका उत्तर स्वयं मि० जिना ने देना अस्वीकार कर दिया है। जिना साहब आज लगभग १२ वर्षों से मुसलिम लीग के एक मात्र नेता, अधिनायक या सर्वेसर्वा हैं, जिना लीग है। पर यह वही जिना हैं जिन्होंने कभी बड़े गर्व से कहा था कि मैं "मुसलमान गोखले" बनना चाहता हूं। यह वही जिना हैं जिन्होंने मौलाना मुहम्मद अली के आग्रह पर तथा हिज हाइनेस आगाखाँ के आग्रह पर भी लीग में शामिल होना अस्वीकार कर दिया था। यह वही जिना हैं जिन्होंने इस बात की बड़ी चेष्टा की थी कि लीग और कांग्रेस एक हो जावें। १६१५ में जब कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में होने वाला था, जिना के प्रयत्न से ही लीग का अधिवेशन भी बम्बई में बुलाया गया था तथा ३० दिसम्बर १६१५ को कांग्रेस के बड़े नेता गण लीगी नेताओं से गले गले मिले थे। सन् १६१६

में लोकमान्य तिलक के साथ मिलकर लीग में हिन्दू मुसलिम समझौता कराने का प्रयत्न जिना ने ही किया था। पर, आज समय बदल गया है। जिना को कांग्रेस से नफरत है, वे कांग्रेस के शत्रु हैं। बारबार गांधीजी जिना के दरवाजे पर गये, उन्हें हिन्दू मुसलिम एकता की भीख माँगने पर भी न मिली। गांधी ने अन्तिम प्रयत्न १९४४-४५ में किया, पर फिर असफल रहे।

पर, जिना की राजनीति से सहमत न होते हुए भी हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे एक महान् पुरुष हैं, भारत की विभूति हैं। १८७६ के बड़े दिन में, रविवार को, करांची के एक धनी खोजा परिवार में उनका जन्म हुआ था। बालकाल करांची में ही बीता। १६ वर्ष की उम्र में ही इनको शिक्षा प्राप्त करने के लिये विलायत भेज दिया गया। यहीं पर (जब इनकी उम्र १७ वर्ष थी) इनकी भेंट भारत के राजनैतिक आन्दोलन के भीष्मपितामह तथा ब्रिटिश पार्लामेंट के प्रथम भारतीय सदस्य श्री दादा भाई नौरोजी से हुई। दादा-भाई ने इस युवक की प्रतिभा को तुरन्त पहचान लिया और उन्हें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन में दीक्षित करने लगे। भारत लौटकर सन् १८९७ में जिना ने बम्बई में वकालत शुरू की तो इनको गोखले से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गोखले का इनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि वे उनके राजनैतिक शिष्य बन गये। इस प्रकार दो अत्यन्त उच्चकोटि के देशभक्त तथा राजनीतिज्ञ, श्री दादा-भाई नौरोजी तथा गोखले से राष्ट्रीयता की जो शिक्षा जिना को मिली, उसने इन्हें शीघ्र ही कांग्रेस की राजनीति में शामिल कर लिया। सन १९०६ में इनकी वकालत भी चमक उठी थी और राजनैतिक यश भी फैल रहा था। कुछ समय तक दादाभाई के प्राइवेट सेक्रेटरी रहने का सौभाग्य प्राप्त कर सके थे। सन् १९१० में इम्पीरियल

लेजिस्लेटिव कौंसिल में बम्बई सूबे के मुसलमानों की ओर से वे प्रतिनिधि चुने गये और शीघ्र इनकी सदस्यता की धाक जम गयी। १६१४ में, इण्डिया कौन्सिल के प्रस्तावित सुधारों के परामर्श में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये वे कांग्रेस की ओर से लन्दन गये थे। वहीं पर इन्होंने भारतीय विद्यार्थियों का अच्छा संगठन किया था। इनके व्याख्यानों का ब्रिटिश जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १९१६ में वे बम्बई के मुसलमानों की ओर से इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य पुनः चुने गये और तब से अब तक, ज्यों ज्यों इस केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा का विस्तार होता गया, मि० जिना इसके अधिक महत्वपूर्ण सदस्य बने रहे।

सन् १६१५ में गोखले की मृत्यु के बाद से ही जिना में कुछ परिवर्तन होना शुरू हुआ। धीरे धीरे वे कांग्रेस से खिचते चले गये। और राष्ट्रीयता के स्थान पर साम्प्रदायिकता के हिमायती बन गये। गोलमेज सम्मेलन में या शिमला सम्मेलन में, अप्रैल, मई, जून, १६४६ में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के साथ बातचीत करते समय, वे मुस्लिम राष्ट्र की, भारत के दो टुकड़े कर, रचना करने के लिए बड़े प्रयत्नशील रहे। पर, यह सब होते हुए भी जिना बड़े इखलाक तथा तहज़ीब और तमीज़ के आदमी हैं। स्वभाव के बड़े मिलनसार, नर्म और अच्छे हैं। ठाटबाट की जिन्दगी बिताते हैं, काफ़ी रुपया है, आराम की लीहरी है। अच्छी पोशाक का बड़ा शौक़ है। कहते हैं कि वे भारत में सबसे अच्छी पोशाक पहनने वाले व्यक्ति हैं।

ईश्वर करे मि० जिना अपने पिछले राष्ट्रीय जीवन को यादकर पुनः हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्के हिमायती बन जावें।

डा० राजेन्द्र प्रसाद

सादगी, सरलता तथा पाण्डित्य के साथ ही सौजन्य की मूर्ति राजेन्द्र बाबू को देखकर किसका मस्तक श्रद्धा से न झुक जावेगा। इस महापुरुष ने अपने शरीर को देश तथा समाज की सेवा में घुला डाला है। अपने व्यक्तित्व को अपने सिद्धान्त में ऐसा छुपा दिया है कि राजेन्द्र का पार्थिव शरीर मानो कभी का मुक्त हो चुका है। अब जो कुछ बचा है, केवल आत्मा की निखरी हुई ज्योति है। परार्थ में काम करते रहने की तो ऐसी आदत है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के नेता के पास हमने लोगों को अपनी सड़क या नाले-परनाले तक का दुखड़ा लेकर आते देखा है और राजेन्द्र बाबू उसके काम में ऐसी दिलचस्पी लेने लगते हैं जैसे वे देश की कोई विकट समस्या सुलझा रहे हों। अपने साथियों या मित्रों के लिये वे तुरत ही परिवार के नेता बन जाते हैं और

फिर तो शादी-ब्याह करा देना किसका बच्चा कितना बड़ा है, क्या पढ़ता है, कहाँ नौकरी करता है, हरेक बात की खोज खबर वे अनायास ही रखते हैं। हमें तो अपने देश में ढूँढ़ने पर भी उनके ऐसा सरल साधु हृदय व्यक्ति नहीं मिला। उनके पास बैठ कर अपना दुखड़ा रो लेने का जैसा जी चाहता है। मन यह महसूस करता है कि किसी सहानुभूति के समुद्र में अपनी व्यथा उडेली जा रही है। विपत्ति का साथी इनसे बड़ा कोई नहीं है। इनकी सरलता का लोग अनुचित लाभ भी उठाते हैं।

ऐसे व्यक्ति का यदि बिहार में इतना आदर है कि इनके नाम पर करोड़ों व्यक्ति प्राण तक दे सकने के लिये तय्यार हों तो आश्चर्य क्या है। वास्तव में किसी भी प्रान्त के एक ही व्यक्ति ने ठोस संगठन का इतना अधिक काम नहीं किया है जितना राजेन्द्र बाबू ने चम्पारन सत्याग्रह में, गान्धी जी के साथ मिल कर भारतीयों की जो सेवा आपने की थी उससे कहीं अधिक सेवा समूचे सूबे के किसानों की हित रक्षा के लिये की। पर, इनका नेतृत्व अपने सूबे तक ही सीमित न रहा। अन्य प्रन्तों में इनका कितना बड़ा आदर है तथा इनके प्रति लोगों का कैसा विश्वास है, इसकी मिसाल इसी बात से मिलती है कि संयुक्त प्रान्त में कांग्रेसी शासन के समय कानपुर के मजदूरों की दशा की जाँच के लिये जो समिति बनायी गयी थी उसके अध्यक्ष राजेन्द्रबाबू बनाये गये थे और इन्हीं की अध्यक्षता में मजदूरों के हितों का जो निरूपण हुआ था, वह हरेक प्रान्त के लिये अनुकरणीय है।

कांग्रेस की इनकी सेवायें अखंड हैं और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अधिकार का कभी भी लोभ न रहा। चुपचाप काम करते जाना और अपने कर्त्तव्य का पालन करना। बस, यही आपका धर्म रहा। पर, जब कभी ऐसा संकट पड़ा कि इनका

अधिकार ग्रहण करना अनिवार्य हो गया, वे कभी भी पीछे न हटे और सदैव अपने कर्त्तव्य-पथ पर अटल खड़े रहे। इनको सबसे अधिक कठिन परिस्थिति का सामना सन् १९३९ में करना पड़ा था। इस वर्ष, उग्रवादी दल की सहायता से, नम्रवादियों के नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। महात्मा गाँधी इत्यादि ने डा० पट्टाभि सितारमैया का समर्थन किया था। वास्तव में काँग्रेस के अध्यक्षपद के चुनाव के लिये यह प्रथम निर्वाचन था जिसमें दो पक्षों में होड़ हुई हो। प्रायः अध्यक्ष का चुनाव सर्वसम्मति से होता है। पर वाम और दक्षिण पक्ष के इस युद्ध में दक्षिण पक्ष हार गया। स्वयं गांधी जी ने कहा कि "डा० पट्टाभि की पराजय मेरी पराजय है।"

सुभाष को त्रिपुरी अधिवेशन में अध्यक्षता करने को तो मिली पर वे काँग्रेस के और वयोवृद्ध नेताओं को अपने मंत्रि-मंडल में काम करने के लिये राजी न कर सके। वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रबाबू, सरोजनी नायडू सभी अलग बैठे रहे। अन्त में विवश होकर कलकत्ता में आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी का विशेष अधिवेशन हुआ। सुभाष ने त्यागपत्र दे दिया। अधिकांश बंगाल इसे बंगाली प्रश्न बनाने को तुला बैठा था। बंगाली बड़े उत्तेजित हो उठे थे। उस कठिन अवसर पर काँग्रेस प्रेसिडेंट की खाली गद्दी पर बैठना तथा राजनैतिक कर्णधार बनना बड़े साहस का काम था। गाँधीजी की आज्ञा से राजेन्द्र बाबू ही इस कार्य के लिये चुने गये और इसमें कोई संदेह नहीं कि बड़ी योग्यता, बड़े परिश्रम के साथ उन्होंने भारत की इस सर्वोच्च राजनैतिक संस्था को दलबन्दी तथा पारस्परिक मनमुटाव के दलदल में फंस कर गिरने से बचाया था। कलकत्ता काँग्रेस में जेन्द्र बाबू ने विनम्र रूप से अध्यक्ष पद ग्रहण कर जो व्या-

ख्याल दिया था तथा मन से एकता की अपील जिन करुण शब्दों में की थी, उसे सुनकर किसका हृदय न भर उठा होगा।

निरंतर परिश्रम, सामाजिक सेवा तथा देश की हर विपत्ति में, चाहे बिहार का भूकंप हो या युक्तप्रान्त की बाढ़, भाग लेने के कारण आपका स्वास्थ्य नष्ट हो गया है और अब तो दमा ने परेशान कर रखा है। उनके ऐसे स्वास्थ्य वाले को तो पूर्ण विश्राम करना चाहिये पर विश्राम तो वे संसार से विदा होने के समय करेंगे; अभी तो जेल जाने तथा देश भर का दौरा करने और भारतीय राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाने से ही अवकाश नहीं है। इनके मंत्री श्री चक्रधर तथा मित्र मथुरा बाबू आपके स्वास्थ्य की काफ़ी देखरेख रखते हैं। आप लोग साये की तरह राजेन्द्र बाबू के साथ रहते हैं।

डा० राजेन्द्रप्रसाद को डाक्टर आव् लॉ की सम्मानित उपाधि पटना विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई है वैसे आपने एम० ए०, एम० एल० की परीक्षा पास की है और क़ानून में सबसे ऊँची डिग्री हासिल की। सन् १८८४ में आपका जन्म हुआ था और शिक्षा इत्यादि सब कलकत्ता में ही हुई। वहीं, कलकत्ता हाईकोर्ट में आपने वकालत शुरू कर दी तथा वकालत चमकी भी ख़ूब। प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। योग्यता तो प्रकट हो ही जाती है। कलकत्ता के प्रवास के कारण ही बंगालियों से आपकी काफ़ी घनिष्ठता हो गयी और वे उनका बड़ा आदर करते थे। राजेन्द्र बाबू की न्याय-प्रियता तथा सत्यनिष्ठा देख कर ही बिहार में बंगालियों तथा बिहारियों में बढ़ते हुए मनोमालिन्य को दूर करने के लिये सर जगदीशचन्द्र बोस ने आपके पास एक लाख रुपये का कोष रख दिया है। इस कोष के द्वारा बंगाली-बिहारियों में सद्भाव उत्पन्न करने का काम बड़ी अच्छी तरह से हो रहा है।

काँग्रेस में शामिल होने के बाद राजनैतिक सेवा के कार्य में पड़कर वकालत छोड़ देनी पड़ी। घर का कारबार बड़े भाई श्री महेन्द्रप्रसाद देखते थे। उनके निधन से राजेन्द्रबाबू को बड़ा शोक हुआ। पच्चीस वर्ष से आप ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के सदस्य हैं। १९३४ में उसके ४८ वें अधिवेशन के सभापति रह चुके हैं तथा १९३९ में उनको पुनः कुछ समय के लिये कांग्रेस सभापति बनना पड़ा था। बीस वर्ष से आप कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी के सदस्य हैं।

राजेन्द्रबाबू सत्य तथा अहिंसा के साकार उदाहरण हैं। इनकी तपश्चर्या तथा साधना महान है, किसी देश में ऐसे योग्य व्यक्ति विरले ही जन्म लेते हैं। उनका जो निजी महत्व है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

हमने इस लेख में इस महापुरुष की जीवनी नहीं लिखी है, केवल इनकी जीवनी पढ़ने के लिये एक चाव पैदा कर दिया है। पर ऐसे कर्मठ व्यक्ति को जबतक स्वयं अपने जीवन पर प्रकाश डालने का अवसर न मिले, हमें ज्यादा जानकारी नहीं हो सकती क्योंकि इनके आत्म-विज्ञापन से सदैव दूर रहने के कारण लोग इनके बारे में पूरी जानकारी भी नहीं हासिल कर सके हैं।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

जो वास्तव में महान है, उसके शत्रु भी उसकी प्रशंसा करेंगे। शिमला सम्मेलन के अवसर पर, जिसे भारतीय राजनैतिक समस्या सुलझाने के लिये वायसराय लार्ड वावेल ने, जून १९४५ में बुलाया था, कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद का महत्व जग जाहिर हो गया। कट्टर से कट्टर अंग्रेज और कांग्रेस विरोधियों ने भी स्वीकार किया कि वे बड़ी सूझबूझ तथा पहुँच के आदमी हैं और उनकी बुद्धिमत्ता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय पक्ष के नेता, आजाद साहब ही थे और लार्ड वावेल ने भी यह महसूस कर लिया था कि भारतीयों का सच्चा वकील वही वृद्ध है। गांधी जी भी, शिमला में आजाद की छाया में आ गये। आजाद के पास हजारों तार भेज कर लोग उनमें विश्वास व्यक्त

कर रहे थे और इसका एलान करते थे कि भारत के नेता आप हैं। हिन्दू-मुसलमान सबका आपमें पूर्ण विश्वास है। हमने शिमला में जब इनके मंत्री हुमायूँ कबीर के हाथ में सैकड़ों तारों का पुलिन्दा देखा तो हैरत में पड़ गये।

शिमला से लौटते समय अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों ने आपके प्रति बड़ी उद्दण्डता का व्यवहार किया था। इस घटना के सम्बन्ध में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के मुख पत्र ने बड़ा अच्छा लेख लिखा था। स्मरण रहे कि कांग्रेस तथा कम्यूनिस्ट दल में काफी मतभेद है। अतएव एक विरोधी की प्रशंसा का खास महत्व है। पत्र ने लिखा था :—

"क्या वे नहीं जानते कि मौलाना अबुलकलाम अजाद ने ही मुसलमानों को साम्राज्यवाद का विरोध करने का 'क ख ग' सिखलाया है? क्या वे नहीं जानते कि समूची दुनियाँ के मुसलमानों में मौजूद सबसे बड़े विद्वानों में उनकी गणना होती है तथा उनकी दस पीढ़ी से, अकबर बादशाह के जमाने से ही उनका खानदान अपनी विद्या तथा पांडित्य के लिए प्रसिद्ध है! क्या उन्होंने "अलहिलाल" से उनकी महान् लेखनी का स्वाद नहीं लिया है अथवा उनका आत्म चरित "तज किरा" नहीं पढ़ा है! कुरान पर उन्होंने कितनी विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है! इस्लाम तथा उसकी मातृभावना के वे सबसे बड़े पुजारी हैं।"

शिमला सम्मेलन के बाद अप्रैल, ४६ से दिल्ली में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के साथ समझौते की जो वार्त्ता शुरू हुई उसमें भी मौलाना की छाप जम गयी। भारत सचिव, सर स्टैफर्ड तथा मि० एलेक्जेण्डर—सबने एक स्वर से स्वीकार किया कि मौलाना भारत के सबसे बड़े तथा सबसे अधिक सुलझे हुए देश भक्त हैं।

शिमला सम्मेलन की विफलता के बाद कितने ही लेख

प्रकाशित हुए, सबमें, एक स्वर में मौलाना आजाद की योग्यता तथा देशभक्ति की प्रशंसा की गयी थी और यह सर्वथा उचित भी था। मौलाना का जीवन ही देश सेवा में बीता है। मुसलिम धर्मशास्त्र का भारत में उनके समान कोई ज्ञाता नहीं है तथा उनके ऐसा कट्टर मुसलमान मिलना कठिन है। पर उन्होंने अपने महान धर्म से उसका असली तत्व सीखा है और वह तत्व है सबके साथ सद्भाव रखना प्रेम रखना, अपना समझना, मानव मात्र को भाई समझना। कलकत्ता की ईद की नमाज पढ़ाते समय लाखों नर नारी को अपनी बुलन्द आवाज में जब वे उपदेश देते थे तो ऐसा प्रकट होता था मानो पैगम्बर साहब ने अपने मजहब का असली तत्व समझाने के लिए स्वयं-दूत भेजा है मुसलमानों की इनके प्रति बड़ी श्रद्धा है और आज पार्टी-बाजी या लीग के विरोध के कारण लोग इन पर भले ही कीचड़ उछालें पर मुसलमान इनकी योग्यता तथा पाण्डित्य के कायल हैं, अभी हाल में ही, शिमला से बैठे बैठे, आपने मुसलिम शरीयत के प्रस्तावित रद्दोबदल के सम्बन्ध में जो सम्मति दी थी, वह दुनियाँ के सभी मुसलिम पत्रों ने बड़े आदर के साथ प्रकाशित किया था।

उनका चित्त धर्म के काम तथा धर्म ग्रंथों के अध्ययन में ही ज्यादा लगता है और वे हर प्रकार से धर्म की ही सेवा करने के लिये समय चाहते हैं। पर, यह अवकाश मिलता ही नहीं। धर्म के पुजारी को समाज की पूजा भी करनी पड़ेगी और समाज के साथ देश का पूरा सम्बन्ध है ही। अतएव मुसलमानों में हर प्रकार की सामाजिक सेवा करने के साथ ही आजाद ने मुसलमानों के ही स्वदेश भारतवर्ष की सेवा का भी यत्न किया है। हिन्दू-मुसलिम एकता के ये कट्टर समर्थक हैं और बार बार पुकार पुकार कर कहते हैं :—

"ऐ हिन्दू मुसलमानों, अगर : आपस में मेल जोल से रहना न सीखोगे तो नष्ट हो जाओ "

बहुत से मुसलिम नेता अपना पहलू बदलते गये, अपने मार्ग से खिसकते गये पर आजाद का राजनैतिक जीवन यथावत्, यथाक्रम है। शुरू से जो विचारधारा बनी, वही चलती जा रही है। उसी के अनुसार काम हो रहा है। परीक्षा के बार बार अवसर आने पर भी वे अपने स्थान से जरा भी विचलित नहीं हुए। ऐसी विभूति को कांग्रेस का नेतृत्व करने का सम्मान प्रदान कर यह सिद्ध कर दिया गया है कि कांग्रेस हिन्दुओं ही की संस्था नहीं है, राष्ट्र की संस्था है।

सुभाष बाबू के पदत्याग के बाद, जब राजेन्द्र बाबू ने कांग्रेस की बागडोर सम्हाली थी, उस समय से ही कांग्रेस के जीवन में संकट काल आ गया। सन् १९४० में उसका ५३वाँ अधिवेशन रामगढ़ में हुआ था। इस अधिवेशन के अध्यक्ष सर्व सम्मति से मौलाना साहब चुने गये। तभी से आप इस पद पर सुशोभित हैं। विगत द्वितीय महायुद्ध के समय कांग्रेस की नौका की बड़ी भारी मँझधार से पार लगाने का श्रेय आपको ही है।

वर्षों जेल यात्रा में बीते। बारबार सीकचों के भीतर बन्द होना पड़ा। स्वास्थ्य जेल जाने से खराब हो गया। सन् १९४२ की जेल यात्रा में पत्नी-वियोग भी सहना पड़ा और उनका मरा मुँह तक न देख पाये और वे पति का दर्शन किये बिना ही चल बसीं। अप्रैल, १९४३ में इनकी पत्नी का देहान्त हुआ था।

आपका जन्म सन् १८८८ में मुसलमानों के सबसे पवित्र तीर्थ स्थान मक्का में हुआ था। बालकाल भारत के बाहर ही बीता और शिक्षा भी मुसलिम देशों में हुई। काहिरा की "अलअज़हर" यूनिवर्सिटी से उन्होंने धर्म शास्त्र में डिग्री हासिल की थी। शिक्षा समाप्त कर वे भारत आये और कलकत्ता

में रहने लगे। यहीं रह कर आपने "अल हिलाल" नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय तथा धार्मिक पत्र निकाला। जब सरकार ने इस पत्र का प्रकाशन बन्द करा दिया तो "अल बलग" नामक दूसरा पत्र निकाला। इनकी लेखनी शक्ति उतनी ही प्रभावशाली है जितनी व्याख्यान देने की शक्ति। लेखों को पढ़कर पाठक तथा व्याख्यानों को सुन कर श्रोता मुग्ध हो जाते हैं।

मौलाना मुहम्मद अली की तरह इनका भी कांग्रेस से घनिष्ठ सम्बन्ध महायुद्ध के बाद, खिलाफत आन्दोलन के सिलसिले में हुआ पर वास्तव में आप राजनीति में विगत प्रथम महायुद्ध के कुछ पहले से ही भाग लेने लगे थे। असहयोग आन्दोलन में भी शरीक हो गये और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त हो जाने पर भी कांग्रेस के साथ इनका पूर्ण सहयोग बना ही रहा।

आजाद बड़े ऊँचे ख्याल के तथा धुन के पक्के आदमी, विनोदी तथा सरस व्यक्ति हैं। इनके साथ काम करने या बात करने में बड़ा आनन्द आता है। ईश्वर इन्हें चिरंजीवी करे ताकि वे भारत में हिन्दू-मुसलिम एकता की जड़ पूरी तरह से मजबूत कर जावें। रामगढ़ कांग्रेस में अध्यक्ष पद से मौलाना ने जो वाक्य कहे थे, वे सदृव हमारे लिये महत्व पूर्ण रहेंगे। आपने कहा था "मुझे गर्व है कि मैं मुसलमान हूं साथ ही मुझे इसका भी गर्व है कि मैं भारतीय हूं और भारत की राष्ट्रीयता की अविभाज्य एकता का एक अंग हूं।"

६ जुलाई, १९४६ को, बम्बई में, आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की बैठक के समय आपने अपना पद-भार पं० जवाहरलाल नेहरू के सुपुर्द कर दिया। छः वर्ष तक देश की नौका चलाते-चलाते उनका थक जाना स्वाभाविक ही है। मौलाना का स्वास्थ्य काफ़ी खराब हो गया है। ईश्वर उन्हें शीघ्र पूर्ण स्वस्थ करे।



जवाहरलाल नेहरू

साहित्य, धर्म, कला, राजनीति, संक्षेप में जीवन के सभी महत्वपूर्ण अंगों की पूर्ति और सेवा के युक्तप्रान्त का प्रमुख हाथ रहा है। किसी क्षेत्र में दृष्टि डालिये, इस प्रान्त ने अपनी विभूतियों के योगदान से भारत को गौरवान्वित किया है। आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन, डा० भगवानदास, श्री सम्पूर्णानन्द और अनेकानेक अन्य विभूतियों के, जिनकी स्थानाभाव से हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते, अतिरिक्त अग्रणी विभूति पं० जवाहरलाल नेहरू हैं। लाड़, प्यार और वैभव की गोद में पल कर भी पंडित जी ने आज क्या कष्ट नहीं उठाया है। बचपन में इन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा मिली। पन्द्रह वर्ष की ही अवस्था में इन्हें पहली बार विदेशयात्रा करनी पड़ी। इनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू इन्हें लेकर सन् १९०५ में विलायत गये। वहीं इन्हें हैरो के विद्यालय में दाखिल करा दिया गया। यद्यपि उस समय राजनीति से इन्हें लगाव ही क्या हो सकता था पर सन् १९०७ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय

में अपने भारतीय साथियों के साथ बैठकर सुदूर स्वदेश की बातें करना इन्हें बहुत अच्छा लगता था। केम्ब्रिज से बी० एस-सी पास करने के बाद इन्होंने लंदन आकर बैरिस्टरी पास की और सन् १९१२ में भारत वापस आए।

इस समय तक इनके राजनीतिक भाव पर्य्याप्त रूपेण जागृत हो चुके थे। वे धीरे धीरे यद्यपि बच बच कर, छोटी मोटी राजनीतिक बातों में भाग भी लेने लगे थे पर खुले रूप से वह पहले पहल सन् १९१५ में लोगों के सामने आये। इस वर्ष एक सार्वजनिक सभा में वह प्रेसऐक्ट के विरुद्ध बोले थे। सन् १९१६ में इनकी गाँधी जी से प्रथम भेंट हुई। सन् १९२१ में वे प्रथमबार जेल गये। सन् १९२९ में वे प्रथम बार काँग्रेस के अध्यक्ष हुए।

भारतीय राजनीति में पंडित जवाहरलाल का स्थान क्या है, यह नये सिरे से बताने की जरूरत नहीं। गांधी जी के बाद, टैगोर और पं० जवाहरलाल ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें शायद दुनियाँ के कोने कोने में लोग जानते हैं और पं० जवाहरलाल के जीवन में भी, गांधी जी का जो प्रभाव है, सन् १९१६ से ही उन पर इनकी जो अटूट श्रद्धा जमी है, वह आजीवन बनी रहेगी। राजनीति ही इस समय जवाहर का जीवन है। उनके जीवन का प्रत्येक पल जनता का है। राजनीति में वह समाजवादी विचार धारा रखते हैं पर इससे उनके कांग्रेस के कार्यों में तथा गांधी जी के प्रति श्रद्धा में अन्तर नहीं पड़ सकता। ऐसे अवसर एकाधिक बार आये हैं जब उनका गांधी जी से गंभीर मत भेद हुआ है पर संघर्ष कभी नहीं हुआ। गांधी जी भी पं० जवाहरलाल पर अटूट विश्वास रखते हैं।

विद्यार्थियों से, जवाहरलाल जी को बहुत प्रेम है। उन्होंने विद्यार्थियों के लिये बहुत कुछ किया है और सदा ही उनके कार्यों में भाग लेते रहे हैं। विद्यार्थियों की भाँति उन्हें किसान मजदूरों के हितों की भी चिन्ता रही है। वह उनके साथ रहते

हैं। काम करते हैं और जीवन के उनके संघर्षों में अधिकाधिक भाग लेते हैं। युक्तप्रान्त का किसान आन्दोलन उनको अपने बीच में पाकर सजीव और बलवान होगया है। पिछले २०-२२ वर्षों का जीवन जवाहरलाल जी के लिये गम्भीर आत्मत्याग और कष्ट सहिष्णुता का जीवन रहा है। जेल की यात्रा उनके लिये साधारण चीज रही है। वह उन लोगों में हैं जो थकना जानते ही नहीं। शतावधान मिलना तो आज संभव नहीं, पर यह अवश्य है कि पंडित जी एक साथ ही कई काम कर सकते हैं। एक ओर भारतीय राजनीति को उनकी देन है, दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में भी उनका योगदान है। समाज सुधारक भी वह कट्टर दर्जे के हैं। उनके साहित्यिक-सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों का जीवन चित्रण उनकी "आत्मकथा" में है।

पूर्व और पश्चिम का उनमें अद्भुत सम्मिश्रण है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण पश्चिम की विचार धारा के अनुसार है, किन्तु भारत उनके लिये उतना ही सत्य है जितना स्वयं उनका जीवन। भारत की संस्कृति तथा प्राचीनता के प्रति उन्हें श्रद्धा है किन्तु अपने सहकर्मी और साथी श्री सम्पूर्णानन्द जी की भांति वह रूढ़ियों के अन्धअनुयायी नहीं बनना चाहते। बुद्धि और तर्क संग्रह, कोई भी चीज हो, प्राचीन हो या नवीन, उन्हें मोह लेने को पर्याप्त है। भारत की दलित जनता की जागृत होती हुई चेतना ने उन्हें समाजवादी बनाया है पर किसी भी देश का अन्धानुसरण करना वह बुरा समझते हैं। केवल नाम मात्र पर उनका विश्वास नहीं। अन्तर्राष्ट्रीयता अच्छी वस्तु है किन्तु उसके लिये राष्ट्रीयता की बलि नहीं चढ़ायी जा सकती। इसलिये १६४६ में जेल से बाहर आकर पंडित जी ने कम्युनिस्टों के १६४२ के रवैये को बिलकुल ग़लत बताया है। भारत के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक जीवन को वह बदला हुआ देखना चाहते हैं। देशी नरेश के रूप में, जमीदार के रूप में

अथवा पूंजीपति के रूप में, जहाँ कहीं भी पूंजी और अधिकार के बल पर एक आदमी के हाथ में हजारों का जीवन मरण का प्रश्न आगया है, उसे वह उसी तरह घृणा की दृष्टि से देखते हैं जैसे विदेशी साम्राज्यवाद को प्रजातन्त्र के प्रति उन्हें कितना प्रेम है इसका सबसे बड़ा प्रमाण चीन को कांग्रेस द्वारा भेजी गयी डाक्टरी सहायता और स्वयं उनकी चीन की यात्रा है।

जवाहरलाल जी का पारिवारिक जीवन यौवनावस्था तक बड़ा सुखी रहा है। किन्तु अपनी माता स्वर्गीया स्वरूप रानी नेहरू तथा पत्नी कमला नेहरू के निधन ने उनके हृदय पर अमिट छाप छोड़ी है। पत्नी कमला नेहरू को लेकर जब वह विदेश चिकित्सा के लिये गये थे, उसी समय वे राष्ट्रपति चुने गये। पत्नी की मृत्यु के बाद लौटकर तुरत ही लखनऊ कांग्रेस के सभापति बने। उस समय उनके मुख को देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि इस व्यक्ति के जीवन में अभी इतनी करुण और महत्व पूर्ण घटना हुई है।

आज, इतनी आयु होने पर भी पं० जी में वही बालोचित फुर्ती और युवकोचित साहस है। उनका प्राकृत प्रेम उनकी रचनाओं से ही प्रकट होता है। घंटों भाषण देते रहना और वह भी धारा प्रवाह, उनके लिये साधारण बात है। आप किसी भी विषय पर उनसे बातें कीजिये, वह पीछे नहीं हटेंगे। "डिसिप्लिन" के जबर्दस्त हिमायती, गन्दे संस्कारों के दुश्मन, जैसे किसी किसी के पाँव छूने और गिड़गिड़ाकर बोलने की आदतों के और विदेशों की अच्छाइयों के ग्रहण करने के सतत समुत्सुक पं० जवाहरलाल, इसमें संदेह नहीं कि, इस प्रान्त की एक महान विभूति है। देश के लिये वह बड़े से बड़े त्याग करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। पिछले दिनों, भारत के वाइसराय लार्ड वावेल ने कांग्रेस कार्यकारिणी से सदस्यों को सहसा ही जेल से छोड़ कर शिमला में जो कॉन्फ्रेंस बुलायी थी, जनता का यह ख्याल

था कि पं० जवाहरलाल कभी उस सम्मेलन में जाने को प्रस्तुत नहीं होंगे। उनके विद्रोही और आत्माभिमानी स्वभाव को देखते हुए ऐसा सोचना सही भी था। किन्तु जवाहरलाल जी ने उस सम्मेलन की कार्यवाहियों में पूरा भाग लेकर और सम्मेलन का निमंत्रण स्वीकार कर यह स्पष्ट कर दिया कि देश के, भारत के, किसी सम्भावित हित के लिये वह सब कुछ करने को तैयार हैं।

मार्च १९४६ के अन्त में जब ब्रिटेन से कैबिनेट मिशन भारत आया, उसने जवाहर को भारत का प्रमुख वक्ता समझकर उनसे भारतीय राजनैतिक समस्या सुलझाने में सहायता माँगी और पं० जी ने बहुत दौड़ धूप की, बड़ा परिश्रम किया कि भारतीय स्वतन्त्रता की रूपरेखा तैयार हो जावे।

युद्धोतर पुनर्निर्माण की बात आज जोर शोर से हो रही है। पं० जवाहरलाल ने १९३८ में ही इस आवश्यकता को अनुभव किया था और उनके उद्योग से नेशनल प्लैनिंग कमेटी की स्थापना भी हुई थी। उद्योग-व्यवसाय के हित की बहुत सी बातें इस कमेटी द्वारा होनी संभव थी पर पंडित जी के जेल चले जाने के बाद इसका काम रुक गया। जेल से बाहर आकर फौरन ही इस कमेटी की बैठक आयोजित की गयी और पं० जी ने उसको सभापतित्व किया।

६ वर्ष तक कांग्रेस का नेतृत्व करने के बाद, मौलाना आजाद ने देश की सम्मति से यह भार, जुलाई १९४६ से पण्डित जी पर रखा है। देश की विकट परिस्थिति के वही कर्णधार हैं। आपने कांग्रेस कार्य के लिये डा० बी० के० केसकर ऐसा सुयोग्य मंत्री चुना है।

आज वह जहाँ कहीं जाते हैं, हजारों की भीड़ उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ती है। उनकी लोक प्रियता तथा जनता में उनके प्रति जो सम्मान है, उसका यही परिचायक है। पण्डित जी हमारे राष्ट्र के प्राण हैं और हम उनका सादर अभिवादन करते हैं।